करने पर जो विचार युक्तिसंगत सिद्ध हो उसका स्वीकार करना चाहिए–चाहे फिर वह विचार किसीका क्यों न हो। यह कथन तो तीर्थंकर महावीरका किया हुआ है इसलिये इसमें कोई शंका न होनी चाहिए, और यह वचन तो ऋषि कपिलका कहा हुआ है इसलिये इसमें कोई तथ्य नहीं समझना चाहिए–ऐसा पक्षपातपूर्ण विचार-कदाग्रह जैन तार्किकोंकी दृष्टिमें कुत्सित माना गया है। श्रद्धा-प्रधान उस प्राचीन युगके ये परीक्षाकारक विचार निस्सन्देह महत्त्वका स्थान रखते हैं।

जैन तार्किकोंने अपने दार्शनिक मन्तव्योंका केन्द्र स्थान अनेकान्त सिद्धान्त बनाया और 'स्यात्' शब्दाङ्कित वचन भंगीको उसकी स्वरूपबोधक विचार-पद्धति स्थिर कर उस 'स्याद्वाद' को अपना तात्त्विक ध्रुवपद स्थापित किया। इस अनेकान्त सिद्धान्त और स्याद्वाद विचार-पद्धतिने जैन विद्वानोंको तत्त्व-चिन्तन और तर्क-निरूपण करनेमें वह एक विशिष्ट प्रकारकी समन्वय दृष्टि प्रदान की जिसकी प्राप्तिसे तत्त्वज्ञ पुरुष, राग-द्वेषरूप तिमिरपरिपूर्ण इस तमोमय संसार कान्तारको सरलता पूर्वक पार कर अपने अभीष्ट आनन्द स्थानको अव्याबाधतया अधिकृत कर सकता है। जीव और जगत्-विषयक अस्तित्व-नास्तित्व नित्यत्व-अनित्यत्व एकत्व-अनेकत्व आदि जो भिन्न भिन्न एवं परस्पर विरोधी सिद्धान्त तत्तत् तत्त्ववेत्ताओं और मत प्रचारकोंने प्रस्थापित किये हैं उनका जैसा सापेक्ष रहस्य इस समन्वय दृष्टिके प्रकाशमें ज्ञात हो सकता है, वह अन्यथा अज्ञेय होगा। इस समन्वय दृष्टिवाला तत्त्वचिन्तक, किसी एक विचार या सिद्धान्तके पक्षमें अभिनिविष्ट न होकर वह सभी प्रकारके विचारों–सिद्धान्तोंका मध्यस्थता पूर्वक अध्ययन और मनन करनेके लिये तत्पर रहेगा। उसकी जिज्ञासा बुद्धि किसी पक्षविशेषके प्रस्थापित मत-विचारमें आग्रहवाली न बनकर, निष्पक्ष न्यायाधीशके विचारकी तरह, पक्ष और विपक्षके अभिनिवेशसे तटस्थ रहकर, सत्यान्वेषण करनेके लिये उद्यत रहेगी। वह किसी युक्ति विशेषको वहाँपर नहीं खींच ले जायगा, जहां उसकी मति चोंट रही हो; लेकिन वह अपनी मतिको वहाँ ले जायगा, जहां युक्ति अपना स्थान पकड़े बैठी हो। अनेकान्त सिद्धान्तके अनुयायिओंके ये उदार उद्गार हैं। शायद, ऐसे उद्गार अन्य सिद्धान्तोंके अनुगामिओंके साहित्यमें अपरिचिति होंगे।

ऊपरकी इन कण्डिकाओंके कथनसे ज्ञात होगा कि, जैन साहित्यका यह दार्शनिक ग्रन्थात्मक अंग भी, समुच्चय भारतीय दर्शन-साहित्यके रङ्ग मण्डपमें कितना महत्त्वका स्थान रखता है। विना जैन तर्कशास्त्रका विशिष्ट आकलन किये, भारतीय तत्त्वज्ञानके इतिहासका अन्वेषण और अवलोकन अपूर्ण ही कहलायगा।

जैनेतर विद्वानोंमें, बहुत ही अल्प ऐसे दार्शनिक विद्वान् होंगे जो जैन तर्क ग्रन्थोंका कुछ विशिष्ट अध्ययन और मनन करते हों। विद्वानोंका बहुत बड़ा समूह तो यह भी नहीं जानता होगा कि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद क्या चीज है। हजारों ही ब्राह्मण पण्डित तो यह भी ठीक नहीं जानते होंगे कि बौद्ध और जैन दर्शनमें क्या भेद है। जो कोई विद्वान् माधवाचार्यका बनाया हुआ सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रंथका अध्ययन करते हैं उन्हें कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान जैन दर्शनके सिद्धान्तोंका होता है। इसके विपरीत जैन विद्वानोंका दार्शनिक ज्ञान

सिंघी जैन ग्रन्थमाला

अष्टम (८) मणि

महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिरचिता

जैन तर्क भाषा

विशेष व्यापक होता है। वे कमसे कम न्यायशास्त्रके तो मौलिक ग्रन्थोंका अवश्य परिचय प्राप्त करते हैं; और इसके उपरान्त, जिन कितने एक जैन तर्क ग्रन्थोंका वे अध्ययन-मनन करते हैं, उनमें, थोड़ी बहुत, सब ही दर्शनोंकी चर्चा और आलोचना की हुई होती है। इससे सभी दर्शनोंके मूलभूत सिद्धान्तोंका थोड़ा-बहुत परिचय जैन तर्काभ्यासियोंको जरूर रहा करता है।

भारतीय इतिहासके भिन्न-भिन्न युगों और उसके प्रमुख प्रज्ञाशालियोंका जब हम परिचय करते हैं तब हमें यह एक ऐतिहासिक तथ्य विदित होता है कि जिस तरह जैन विद्वानोंने अन्य दार्शनिक सिद्धान्तोंका अविपर्यासभावसे अवलोकन और सत्यता-पूर्वक समालोचन किया है, वैसे अन्य विद्वानोंने–ख़ासकर ब्राह्मण विद्वानोंने–जैन सिद्धान्तोंके विषयमें नहीं किया। उदाहरणके लिये वर्तमान युगके एक असाधारण महापुरुष गिने जाने लायक स्वामी दयानन्दका उल्लेख किया जा सकता है। स्वामीजीने अपने सत्यार्थप्रकाश नामक सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थमें जैन दर्शनके मन्तव्योंके विषयमें जो ऊटपटांग और अंड-बंड बातें लिखी हैं, वे यद्यपि विचारशील विद्वानोंकी दृष्टिमें सर्वथा नगण्य रही हैं; तथापि उनके जैसे युगपुरुषकी कीर्तिको वे अवश्य कलङ्कित करने जैसी हैं और अक्षम्य कोटिमें आनेवाली भ्रान्तिकी परिचायक हैं। इसी तरह हम यदि उस पुरातन कालके ब्रह्मवादी अद्वैताचार्य स्वामी शङ्करके ग्रन्थोंका पठन करते हैं तो उनमें भी, स्वामी दयानन्दके जैसी निन्द्यकोटिकी तो नहीं, लेकिन भ्रान्तिमूलक और विपर्याससूचक जैनमत-मीमांसा अवश्य दृष्टिगोचर होती है। स्वामी शङ्कराचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रोंके भाष्यमें, अनेकान्तसिद्धान्तका जिन युक्तियों द्वारा खण्डन करनेका प्रयत्न किया है, उन्हें पढ़कर, किसी भी निष्पक्ष विद्वान्को कहना पड़ेगा कि–या तो शङ्कराचार्य अनेकान्त सिद्धान्तसे प्रायः अज्ञान थे या उन्होंने ज्ञानपूर्वक इस सिद्धान्तका विपर्यासभावसे परिचय देनेका असाधु प्रयत्न किया है। यही बात प्रायः अन्यान्य शास्त्रकारोंके विषयमें भी कही जा सकती है। इस कथनसे हमारा मतलब सिर्फ इतना ही है कि–ठेठ प्राचीन काल ही से जैन दार्शनिक मन्तव्योंके विषयमें, जैनेतर दार्शनिकोंका ज्ञान बहुत थोड़ा रहा है और स्याद्वाद या अनेकान्त सिद्धान्तका सम्यग् रहस्य क्या है इसके जाननेकी शुद्ध जिज्ञासा बहुत थोड़े विद्वानोंको जागरित हुई है।

अस्तु, भूतकालमें चाहे जैसा हुआ हो; परंतु, अब समय बदला है। वह पुरानी मत-असहिष्णुता धीरे-धीरे विदा हो रही है। संसारमें ज्ञान और विज्ञानकी बड़ी अद्भुत और बहुत वेगवाली प्रगति हो रही है। मनुष्य जातिकी जिज्ञासावृत्तिने आज बिलकुल नया रूप धारण कर लिया है। एक तरफ़ हजारों विद्वान् भूतकालके अज्ञेय रहस्यों और पदार्थोंको सुविज्ञेय करनेमें आकाश-पाताल एक कर रहे हैं; दूसरी तरफ़ हजारों विद्वान् ज्ञात विचारों और सिद्धान्तोंका विशेष व्यापक अवलोकन और परीक्षण कर उनकी सत्य-असत्यता और तात्त्विकताकी मीमांसाके पीछे हाथ धो कर पड़ रहे हैं। भारतीय तत्त्वज्ञान जो कलतक मात्र ब्राह्मणों और श्रमणोंके मठोंकी ही देवोत्तर सम्पत्ति समझी जाती थी वह आज सारे भूखण्डवासियोंकी सर्वसामान्य सम्पत्ति बन गई है। पृथ्वीके किसी भी कोनेमें रहने वाला कोई भी रंग या जातिका मनुष्य, यदि चाहे तो आज इस सम्पत्तिका यथेष्ट उपभोग कर

सिंघी जैन ग्रन्थमाला

जैन आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, कथात्मक – इत्यादि विविधविषयगुम्फित
प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राचीनगूर्जर, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
बहु उपयुक्त पुरातनवाङ्मय तथा नवीन संशोधनात्मक
साहित्यप्रकाशिनी जैन ग्रन्थावलि ।

कलकत्तानिवासी स्वर्गस्थ **श्रीमद् डालचन्दजी सिंघी** की पुण्यस्मृतिनिमित्त
तत्सुपुत्र **श्रीमान् बहादुरसिंहजी सिंघी** कर्तृक
संस्थापित तथा प्रकाशित

सम्पादक तथा सञ्चालक
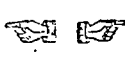
जिनविजय मुनि

[सम्मान्य सभासद–भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर पूना, तथा गूजरात साहित्य-सभा अहमदाबाद; भूतपूर्वाचार्य–गूजरात पुरातत्त्वमन्दिर अहमदाबाद; जैन वाङ्मयाध्यापक विश्वभारती, शान्तिनिकेतन; संस्कृत, प्राकृत, पाली, प्राचीनगूर्जर आदि अनेकानेक ग्रंथ संशोधक–सम्पादक ।]

ग्रन्थांक ८

प्राप्तिस्थान

व्यवस्थापक - सिंघी जैन ग्रन्थमाला

अनेकान्त विहार
९, शान्तिनगर; पोष्ट-साबरमती
अहमदाबाद

सिंघीसदन
४८, गरियाहाटरोड; पो० बालीगंज
कलकत्ता

सकता है। जिनके सात सौ पुरुषों तकके पूर्वजोंने जिस ब्रह्मवाद, शून्यवाद या स्याद्वादका कभी नाम भी नहीं सुना था और जिनकी जीभ इन शब्दोंका उच्चारण करनेमें भी ठीक समर्थ नहीं हो सकती, वे पश्चिमी आर्य, आज इन तत्त्ववादोंके, हम भारतीय आर्योंसे अधिकतर पारगामी समझे जाते हैं। ब्रह्मवादका महत्त्व आज हम किसी काशीनिवासी ब्राह्मण महामहोपाध्यायके वचनोंसे वैसा नहीं समझते जैसा आंग्लद्वीपवासी डाक्टर मॅक्षमुल्लरके शब्दों द्वारा समझते हैं; शून्यवादका रहस्य हम किसी लंकावासी बौद्ध महाथेरके कथनोंसे वैसा नहीं अवगत कर सकते जैसा रूसवासी यहुदी विद्वान् डॉ० त्सेरवेटत्स्कीके लेखों द्वारा कर सकते हैं। स्याद्वादका तात्पर्य हम किसी जैनसूरिचक्रचक्रवर्तीकी जिह्वासे वैसा नहीं सुन सकते जैसा जर्मन पण्डित डॉ० हेरमान याकोबीके व्याख्यानोंमें सुन पाते हैं। यह सब देख-सुनकर हमें मानना और कहना पड़ता है कि अब समय बदला है।

जिनके पूर्वजोंने एक दिन यह घोषणा की थी कि–'**न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि**' उन्हीं ब्राह्मणोंकी सन्तान आज प्राणोंके कण्ठ तक आ जानेपर भी यावनी भाषाका पारायण नहीं छोड़ती। और, इसी घोषणाके उत्तरार्द्धमें उन्हीं भूदेवोंने अपनी सन्तानोंके लिये यह भी कह रखा था–'**हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैनमन्दिरम्**' वे ही ब्राह्मणपुत्र आज प्रत्येक जैन उपाश्रयमें शूद्रप्राय समझते हुए भी जैन भिक्षुओंको अहर्निश शास्त्राध्ययन कराते हैं और विशिष्ट दक्षिणा प्राप्त करनेकी लालसासे मनमें महामूर्ख मानते हुए भी किसी को 'शास्त्रविशारद' और किसीको 'सूरिसम्राट्' कहकर उनकी काव्यप्रशस्तियां गाते हैं।

अब ब्रह्मविद्या और आर्हतप्रवचन केवल मठों और उपाश्रयोंमें बैठकर ही अध्ययन करनेकी वस्तु नहीं रहीं। उनके सम्मानका स्थान अब ब्राह्मण और श्रमण गुरुओंकी गद्दियाँ नहीं समझी जातीं, लेकिन विश्वविद्यालयोंके व्याख्यान-व्यासपीठ माने जाते हैं। कौनसे विद्यापीठने किस शास्त्रको अपने पाठ्यक्रममें प्रविष्ट किया है, इसपरसे उस शास्त्रका वैशिष्ट्य समझा जाता है और उसके अध्ययन-अध्यापनकी ओर अभ्यासियोंकी जिज्ञासा आकर्षित होती है। अब अध्यापकगण भी–चाहे वह फिर ब्राह्मण हो या चाहे अन्य किसी वर्णका–शूद्र ही क्यों न हो–सभी शास्त्रोंका सहानुभूतिपूर्वक पठन-पाठन करते-कराते हैं और तत्त्वजिज्ञासा पूर्वक उनका चिन्तन-मनन करते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, तथा कलकत्ता, बम्बई और इलाहाबादकी युनिवर्सिटियोंने अपने अध्ययन विषयोंमें अन्यान्य ब्राह्मण शास्त्रोंके साथ जैन शास्त्रोंको भी स्थान दिया है और तदनुसार उन विद्यापीठोंके अधीनस्थ कई महाविद्यालयोंमें इन शास्त्रोंका पठन-पाठन भी नियतरूपसे हो रहा है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयने तो जैनशास्त्रके अध्यापककी एक स्वतन्त्र गद्दी भी प्रतिष्ठित की है।

इस प्रकार, शास्त्रप्रसार निमित्तक इस नवयुगीन नवविधानके कारण, अनेक विद्यार्थी जैन शास्त्रोंका अध्ययन करने लगे हैं और जैन न्यायतीर्थ-न्यायविशारद आदि उपाधियोंसे विभूषित होकर विद्योत्तीर्ण होने लगे हैं। जो विद्या और जो ज्ञान पूर्वकालमें बहुत ही कष्ट-साध्य और अति दुर्लभ समझा जाता था वह आज बहुत ही सहज साध्य और सर्वत्र सुलभ जैसा हो गया

महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिरचिता

जैन तर्क भाषा

[तात्पर्यसंग्रहाख्यवृत्तिसहिता ।]

सम्पादक

पण्डित सुखलालजी संघवी

जैनदर्शनाध्यापक–हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

[भूतपूर्व-दर्शनशास्त्राध्यापक–गूजरात पुरातत्त्वमन्दिर-अहमदाबाद]

तथा

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री
न्यायतीर्थ, जैनदर्शनाध्यापक–स्याद्वादविद्यालय
बनारस

पण्डित दलसुख मालवणिया
न्यायतीर्थ,
बनारस

प्रकाशन कर्ता

संचालक-सिंघी जैन ग्रन्थमाला

अहमदाबाद-कलकत्ता

विक्रमाब्द १९९४] प्रथमावृत्ति, एकसहस्र प्रति । [१९३८ क्रिष्टाब्द

है। अब जो किसी खास बातकी आवश्यकता है तो वह है जैन शास्त्रोंके अच्छे शास्त्रीय पद्धतिसे किये गये संशोधन-संपादनपूर्वक उत्तम संस्करणों की। अपने शास्त्रोंका प्रचार करनेकी अभिलाषावाले जैन संघके ज्ञानप्रेमी जनोंको लिये यह परम कर्त्तव्य उपस्थित हुआ है, कि अब जैन साहित्यके उन ग्रन्थरत्नोंको, उस तरहसे अलंकृत कर प्रकाशमें लाये जायँ, जिससे अध्ययनाभिलाषी विद्यार्थियोंको और अध्यापक जनोंको अपने अध्ययन-अध्यापनमें प्रोत्साहन मिले। जैन प्रवचनकी सच्ची प्रभावना ऐसा ही करनेसे होगी।

यद्यपि, इतःपूर्व, जैन समाजके कुछ विद्यानुरागी श्रमण और श्रावक वर्गने, जैन ग्रन्थोंका प्रकाशन कर कितना एक उत्तम एवं प्रशंसनीय कार्य किया है, और अब भी कर रहे हैं; लेकिन उनकी वह कार्यपद्धति, आधुनिक ग्रन्थ सम्पादनकी विद्वन्मान्य पद्धति और विशिष्ट उपयोगिताकी दृष्टिसे अलंकृत न होनेसे, उनके प्रकाशन कार्यका जितना प्रचार और समादर होना चाहिए, उतना नहीं हो पाता। उनके प्रकाशित वे ग्रन्थ प्रायः लिखित रूपसे मुद्रित रूपमें परिवर्तित मात्र कर दिये हुए होते हैं, इससे विशेष और कोई संस्कार उनपर नहीं किया जाता; और इस कारणसे, उनका जो कुछ उचित महत्त्व है वह विद्वानोंके लक्ष्यमें योग्यरूपसे नहीं आने पाता। यद्यपि हीरेका वास्तविक मूल्याङ्कन उसकी अन्तर्निहित तेजस्विताके आधारपर ही होता रहता है; तथापि सर्वसाधारणकी दृष्टिमें उसके मूल्यकी योग्यता कुशल शिल्पी द्वारा उसपर किये गये मनोरम संस्कार और यथोचित परिवेष्टनादि द्वारा ही सिद्ध होती रहती है। ठीक यही हाल ग्रन्थ रत्नका है। किसी भी ग्रन्थका वास्तविक महत्त्व उसके अन्दर रहे हुए अर्थगौरवके अनुसार ही निर्धारित होता रहता है, तथापि, तद्विद् मर्मज्ञ संपादक द्वारा उसका उचित संस्कार समापन्न होने पर और विषयोपयुक्त उपोद्घात, टीका, टिप्पणी, तुलना, समीक्षा, सारालेखन, पाठ-भेद, परिशिष्ट, अनुक्रम इत्यादि यथायोग्य परिवेष्टनादि द्वारा अलंकृत होकर प्रकाशित होने पर, सर्व साधारण अभ्यासियोंके लक्ष्यमें उस ग्रन्थकी उपयोगिताका वह महत्त्व, आ सकता है।

सिंघी जैन ग्रन्थमालाका आदर्श इसी प्रकार ग्रन्थोंका संपादन कर प्रकाशित करनेका है। इसका लक्ष्य यह नहीं है कि **कितने** ग्रन्थ प्रकाशित किये जायँ, लेकिन यह है कि **किस प्रकार** ग्रन्थ प्रकाशित किये जायँ। संस्कारप्रिय बाबू श्रीबहादुर सिंहजी सिंघीका ऐसा ही उच्च ध्येय है, और उसी ध्येयके अनुरूप, इस ग्रन्थमालाके दार्शनिक अङ्गका यह प्रथम गन्थरत्न, इसके सुमर्मज्ञ बहुश्रुत विद्वान् संपादक द्वारा, इस प्रकार सर्वाङ्ग संस्कृत-परिस्कृत होकर प्रकाशित हो रहा है।

इसके सम्पादन और संस्करणके विषयमें विशेष कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाथ कंकणको आरसीकी क्या जरूरत है। जो अभ्यासी हैं और जिनका इस विषयमें अधिकार है वे इसका महत्त्व स्वयं समझ सकते हैं। अध्यापकवर्य पण्डित श्रीसुखलालजीका जैन दर्शन विषयक अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन, अवलोकन, संशोधन, संपादन आदि अनुभव गंभीर, तलस्पर्शी, तुलनामय, मर्मग्राही और स्पष्टावभासी है। पण्डितजीके इस प्रकार अवबोधका जितना दीर्घ परिचय हमको है उतना और किसी को नहीं है। आज प्रायः

SINGHI JAINA SERIES

A COLLECTION OF CRITICAL EDITIONS OF MOST IMPORTANT CANONICAL, PHILOSOPHICAL HISTORICAL. LITERARY, NARRATIVE ETC. WORKS OF JAINA LITERATURE IN PRĀKṚTA, SANSKṚTA, APABHRAṂŚA AND OLD VERNACULAR LANGUAGES, AND STUDIES BY COMPETENT RESEARCH SCHOLARS.

FOUNDED AND PUBLISHED

BY

ŚRĪMĀN BAHĀDUR SIṄGHJĪ SIṄGHĪ OF CALCUTTA

IN MEMORY OF HIS LATE FATHER

ŚRĪ DĀLCHANDJĪ SIṄGHĪ.

GENERAL EDITOR

JINA VIJAYA MUNI

HONORARY MEMBER OF THE BHANDARKAR ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE OF POONA AND GŪJRAT SAHITYA SABHA OF AHMEDABAD: FORMERLY PRINCIPAL OF GUJRAT PURATATTVAMANDIR OF AHMEDABAD: EDITOR OF MANY SANSKṚTA, PRAKṚTA, PALI, APABHRAṂSA, AND OLD GUJRATI WORKS.

NUMBER 8

TO BE HAD FROM

VYAYASTHĀPAKA, SIṄGHĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

ANEKANT-VIHAR
9, SHANTI NAGAR,
PO. SABARMATI, AHMEDABAD.

SIṄGHI SADAN
48, GARIYAHAT ROAD
BALLYGUNGE, CALCUTTA

Founded] **[1931. A. D.**

२० से भी अधिक वर्ष व्यतीत हो गये, हम दोनों अपने ज्ञानमय जीवनकी दृष्टिसे एक पथके पथिक बने हुए हैं और हमारा बाह्य जीवन सहवास और सहचार भी प्रायः एकाधिकरण रहा है। तर्कशास्त्रके जो दो चार शब्द हम जानते हैं वे हमने इन्हींसे पढ़े हैं। अत एव इस विषयके ये हमारे गुरु हैं और हम इनके शिष्य हैं। इसलिये इनके ज्ञानके विषयमें हमारा अभिप्राय अधिकारयुक्त हम मानते हैं।

पण्डितजीके इस दार्शनिक पाण्डित्यका विशिष्टत्व निदर्शक तो, **सन्मतिप्रकरण** नामक जैन तर्कका सबसे महान् और आकर स्वरूप ग्रन्थका वह संस्करण है जो अहमदाबादके गूजरात पुरातत्त्व मन्दिर द्वारा प्रकाशित हुआ है। पचीस हजार श्लोक परिमाणवाले उस महाकाय ग्रन्थकी प्रत्येक पङ्क्ति अशुद्धियोंसे भरी पड़ी थी। उसका कोई भी ऐसा पुरातन आदर्श उपलब्ध नहीं है जो इन अशुद्धियोंके पुंजसे प्रभ्रष्ट न हो। चर्मचक्षुविहीन होनेपर भी अनेक आदर्शोंके शुद्धाशुद्ध पाठोंका परस्पर मिलान कर, बहुत ही सूक्ष्मताके साथ प्रत्येक पद और प्रत्येक वाक्यकी अर्थसंगति लगाकर, उस महान् ग्रन्थका जो पाठोद्धार इन्होंने किया है वह इनकी 'प्रज्ञाचक्षुता'का विस्मयावबोधक प्रमाण है।

इसी **जैनतर्कभाषा** के साथ साथ, सिंघी जैन ग्रन्थमालाके लिये, ऐसा ही आदर्श सम्पादनवाला एक उत्तम संस्करण, हेमचन्द्रसूरि रचित **प्रमाणमीमांसा** नामक तर्क विषयक विशिष्ट ग्रन्थका भी पण्डितजी तैयार कर रहे हैं, जो शीघ्र ही समाप्त प्रायः होगा। तुलनात्मक दृष्टिसे न्यायशास्त्रकी परिभाषाका अध्ययन करनेवालोंके लिये 'मीमांसा' का यह संस्करण एक महत्त्वकी पुस्तक होगी। बौद्ध, ब्राह्मण और जैन दर्शनके पारिभाषिक शब्दोंकी विशिष्ट तुलनाके साथ उनका ऐतिहासिक क्रम बतलानेवाला जैसा विवेचन इस ग्रन्थके साथ संकलित किया गया है, वैसा संस्कृत या हिन्दीके और किसी ग्रन्थमें किया गया हो ऐसा हमें ज्ञात नहीं है।

यद्यपि, इसमें हमारा कोई कर्तृत्व नहीं है, तथापि हमारे लिये यह हार्दिक आह्लादकी बात है कि, हमारी प्रेरणाके वशीभूत होकर, शारीरिक दुर्बलताकी अस्वस्थकर परिस्थितिमें भी, आज तीन चार वर्ष जितने दीर्घ समयसे सतत बौद्धिक परिश्रम उठाकर, पण्डितजीने इन ज्ञानमणियोंको इस प्रकार सुसज्जित किया और सिंघी जैन ग्रन्थमालाके सूत्रमें इन्हें पिरोकर तद्द्वारा मालाकी प्रतिष्ठामें हमें अपना सहयोग देते हुए **'सहवीर्यं करवावहै'** वाले महर्षियोंके मन्त्रको चरितार्थ किया। अन्तमें हमारी प्रार्थना है कि—**'तेजस्वि नावधीतमस्तु।'**

अनेकान्त विहार
शांतिनगर, अहमदाबाद

जिन विजय

JAIN TARKA BHĀṢĀ

OF

MAHOPĀDHYĀYA ŚRĪ YŚOVIJAYA GAṆĪ

WITH TĀTPARYASAṄGRAHĀ

BY

Pandit SUKHLĀLJĪ SAṄGHAVĪ

PROFESSOR OF JAIN PHILOSOPHY, HINDU UNIVERSITY, BENARES:

LATE PROFESSOR OF INDIAN PHILOSOPHY, GŪJRĀT

PURĀTATTVA MANDIR, AHMEDABAD.

Pandit MAHENDRA KUMAR ŚASTRI

[NYĀ]YA TĪRTHA, SYĀDWĀDA JAINA VIDYĀLAYA, BENARES

Pandit DALSUKH MĀLVANIĀ

NYĀYA TĪRTHA

BENARES.

PUBLISHED BY

THE SAÑCHĀLAKA-SIṄGHĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

AHMEDABAD-CALCUTTA

[V.] E. 1994] *First edition, One Thousand Copies.* [1938 A. D.

परिचय।

ग्रन्थकार—प्रस्तुत ग्रन्थ जैनतर्कभाषाके प्रणेता उपाध्याय श्रीमान् यशोविजय हैं। उनके जीवनके बारेमें सत्य, अर्धसत्य अनेक बातें प्रचलित थीं पर जबसे उन्हींके समकालीन गणी कान्तिविजयजीका बनाया 'सुजशवेली भास' पूरा प्राप्त हुआ, जो बिलकुल विश्वसनीय है, तबसे उनके जीवनकी खरी खरी बातें बिलकुल स्पष्ट हो गईं। वह 'भास' तत्कालीन गुजराती भाषामें पद्यबन्ध है जिसका आधुनिक गुजरातीमें सटिप्पण सार-विवेचन प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत मोहनलाल द० देसाई B. A., LL. B. ने लिखा है। उसके आधारसे यहां उपाध्यायजीका जीवन संक्षेपमें दिया जाता है।

उपाध्यायजीका जन्मस्थान गुजरातमें कलोल (बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे) के पास 'कनोडुं' नामक गाँव है, जो अभी भी मौजूद है। उस गाँवमें नारायण नामका व्यापारी था जिसकी धर्मपत्नी सोभागदे थी। उस दम्पतिके जसवंत और पद्मसिंह दो कुमार थे। कभी अकबरप्रतिबोधक प्रसिद्ध जैनाचार्य हीरविजय सूरिकी शिष्य परंपरामें होनेवाले पण्डितवर्य श्री नयविजय पाटणके समीपवर्ती 'कुंणगेर' नामक गाँवसे विहार करते हुए उस 'कनोडुं' गाँवमें पधारे। उनके प्रतिबोधसे उक्त दोनों कुमार अपने माता-पिताकी सम्मतिसे उनके साथ हो लिए और दोनोंने पाटणमें पं० नयविजयजीके पास ही वि० सं० १६८८ में दीक्षा ली और उसी साल श्रीविजयदेव सूरिके हाथसे उनकी बड़ी दीक्षा भी हुई। ठीक ज्ञात नहीं कि दीक्षाके समय दोनोंकी उम्र क्या होगी, पर संभवतः वे दस-बारह वर्षसे कम उम्रके न रहे होंगे। दीक्षाके समय 'जसवंत' का 'यशोविजय' और 'पद्मसिंह' का 'पद्मविजय' नाम रखा गया। उसी पद्मविजयको उपाध्यायजी अपनी कृतिके अंतमें सहोदर रूपसे स्मरण करते हैं।

सं० १६९९ में 'अहमदाबाद' शहरमें संघ समक्ष पं० यशोविजयजीने आठ अवधान किये। इससे प्रभावित होकर वहाँके एक धनजी सूरा नामक प्रसिद्ध व्यापारीने गुरु श्रीनयविजयजीको विनति की कि पण्डित यशोविजयजीको काशी जैसे स्थानमें पढ़ा कर दूसरा हेमचन्द्र तैयार कीजिए। उक्त सेठने इसके वास्ते दो हजार चाँदीके दीनार ख़र्च करना मंजूर किया और हुंडी लिख दी। गुरु नयविजयजी शिष्य यशोविजय आदि सहित काशीमें आए और उन्हें वहाँके प्रसिद्ध किसी भट्टाचार्यके पास न्याय आदि दर्शनोंका तीन वर्षतक दक्षिणा-दानपूर्वक अभ्यास कराया। काशीमें ही कभी वादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेके बाद पं० यशोविजयजीको 'न्यायविशारद' की पदवी मिली। उन्हें 'न्यायाचार्य' पद भी मिला था ऐसी प्रसिद्धि रही। पर इसका निर्देश 'सुजशवेली भास'में नहीं है।

काशीके बाद उन्होंने आगरामें रहकर चार वर्ष तक न्यायशास्त्रका विशेष अभ्यास व चिन्तन किया। इसके बाद वे अहमदाबाद पहुँचे जहाँ उन्होंने औरंगज़ेबके महोबतखाँ

संकेतानां सूची

अनु० टी०—अनुयोगद्वारसूत्रटीका (देवचन्द लालभाई, सूरत)।
अनुयो० सू०—अनुयोगद्वारसूत्रम् (" ")
आचा०—आचाराङ्गसूत्रम् (आगमोदयसमिति, सूरत)।
आव० नि०—आवश्यकनिर्युक्तिः (आगमोदयसमिति, सूरत)।
तत्त्वार्थभा०—तत्त्वार्थभाष्यम् (देवचन्द लालभाई, सूरत)।
तत्त्वार्थभा० वृ०—तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिः सिद्धसेनगणिकृता (")।
तत्त्वार्थरा०, राजवा० } तत्त्वार्थराजवार्त्तिकम् (सनातन जैनग्रन्थमाला, काशी)।
तत्त्वार्थश्लोकवा०—तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम् (गांधी नाथारंग जैनग्रन्थमाला, मुंबई)।
नयोपदेशः (भावनगर)।
न्यायकु०—न्यायकुसुमाञ्जलिः (चौखम्बा संस्कृत सिरीझ, काशी)।
न्यायदी०—न्यायदीपिका (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)।
न्यायबि० टी—न्यायबिन्दुटीका (बिब्लीओथेका बुद्धिका)।
प्रत्यक्षचि०—प्रत्यक्षचिन्तामणिः (कलकत्ता)।
प्र. न.—प्रमाणनयतत्त्वालोकः (विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन)।
प्रमाणवा०—प्रमाणवार्त्तिकम् (अमुद्रितम्—श्रीराहुलसांकृत्यायनसत्कम्)।
प्र० मी०—प्रमाणमीमांसा (आर्हतमतप्रभाकर, पूना)
परी०—परीक्षामुखसूत्रम् (फूलचन्द्रशास्त्री, काशी)।
मुक्ता०—मुक्तावली।
रत्नाकरा०—स्याद्वादरत्नाकरावतारिका (यशोविजय जैनग्रन्थमाला, काशी)।
लघीय०—लघीयस्त्रयम् (माणिकचन्द ग्रन्थमाला, मुंबई)।
लघीय० स्ववि०—लघीयस्त्रयस्वविवृतिः (अमुद्रिता)।
वादन्यायः (पटना)।
विशेषा०—विशेषावश्यकभाष्यम् (यशोविजय जैनग्रन्थमाला, काशी)।
विशेषा० वृ०—विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्तिः (")।
श्लोकवा०—मीमांसाश्लोकवार्त्तिकम् (चौखम्बा संस्कृत सिरीझ, काशी)।
सन्मति० सन्मतितर्कप्रकरणम् (गूजरातपुरातत्त्वमन्दिर; अमदावाद)।
सन्मतिटी०—सन्मतितर्कप्रकरणटीका (" ")।
सर्वार्थ०, सर्वार्थसि० } सर्वार्थसिद्धिः।
स्या० र०—स्याद्वादरत्नाकरः (आर्हतमतप्रभाकर, पुना)।

—:०:—

का०—कारिका
गा०—गाथा
पं०—पङ्क्तिः
पृ०—पृष्ठम्
प्र०—प्रसंज्ञकप्रतिः
मु०—मुद्रितप्रतिः
मु-टि०—मुद्रितप्रतिगतटिप्पणी
व०—वसंज्ञकप्रति
सं०—संसंज्ञकप्रतिः
सम्पा०—सम्पादकः

नामक गुजरातके सूबेके समक्ष अठारह अवधान किये। इस विद्वत्ता और कुशलतासे आकृष्ट होकर सभीने पं० यशोविजयजीको 'उपाध्याय' पदके योग्य समझा। श्री विजयदेव सूरिके शिष्य श्रीविजयप्रभसूरिने उन्हें सं० १७१८ में वाचक–उपाध्याय पद समर्पण किया।

वि० सं० १७४३ में डभोई गाँव, जो वड़ौदा स्टेटमें अभी मौजूद है उसमें उपाध्यायजीका स्वर्गवास हुआ जहाँ उनकी पादुका वि० सं० १७४५ में प्रतिष्ठित की हुई अभी विद्यमान है।

उपाध्ययजीके शिष्य परिवारका निर्देश 'सुजशवेली' में तो नहीं है पर उनके तत्त्वविजय, आदि शिष्यप्रशिष्योंका पता अन्य साधनोंसे चलता है जिसके वास्ते 'जैनगूर्जरकविओ' भा० २. पृ० २७ देखिए।

उपाध्यायजीके वाह्य जीवनकी स्थूल घटनाओंका जो संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया है, उसमें दो घटनाएँ ख़ास मार्केकी हैं जिनके कारण उपाध्यायजीके आन्तरिक जीवनका स्रोत यहाँतक अन्तर्मुख होकर विकसित हुआ कि जिसके वल पर वे भारतीय साहित्यमें और ख़ासकर जैन परम्परामें अमर हो गए। उनमेंसे पहली घटना अभ्यासके वास्ते काशी जानेकी और दूसरी न्याय आदि दर्शनोंका मौलिक अभ्यास करने की है। उपाध्यायजी कितने ही बुद्धि व प्रतिभासम्पन्न क्यों न होते उनके वास्ते गुजरात आदिमें अध्ययनकी सामग्री कितनी ही क्यों न जुटाई जाती, पर इसमें कोई संदेह ही नहीं कि वे अगर काशीमें न आते तो उनका शास्त्रीय व दार्शनिक ज्ञान, जैसा उनके ग्रन्थोंमें पाया जाता है, संभव न होता। काशीमें आकर भी वे उस समय तक विकसित न्यायशास्त्र ख़ास करके नवीन न्याय-शास्त्रका पूरे वलसे अध्ययन न करते तो उन्होंने जैन-परम्पराको और तद्द्वारा भारतीय साहित्यको जैन विद्वान्की हैसियतसे जो अपूर्व भेंट दी है वह कभी संभव न होती।

दसवीं शताब्दीसे नवीन न्यायके विकासके साथ ही समग्र वैदिक दर्शनोंमें ही नहीं बल्कि समग्र वैदिक साहित्यमें सूक्ष्म विश्लेषण और तर्ककी एक नई दिशा प्रारम्भ हुई और उत्तरोत्तर अधिकसे अधिक विचारविकास होता चला जो अभी तक हो ही रहा है। इस नवीनन्यायकृत नव्य युगमें उपाध्यायजीके पहले भी अनेक श्वेताम्बर दिगम्बर विद्वान् हुए जो बुद्धि-प्रतिभासम्पन्न होनेके अलावा जीवन भर शास्त्रयोगी भी रहे फिर भी हम देखते हैं कि उपाध्यायजीके पूर्ववर्ती किसी जैन विद्वान्ने जैन मन्तव्योंका उतना सतर्क दार्शनिक विश्लेषण व प्रतिपादन नहीं किया जितना उपाध्यायजीने किया है। इस अन्तरका कारण उपाध्यायजीके काशीगमनमें और नव्यन्यायशास्त्रके गम्भीर अध्ययनमें ही है। नवीनन्यायशास्त्रके अभ्याससे और तन्मूलक सभी तत्कालीन वैदिक दर्शनोंके अभ्याससे उपाध्यायजीका सहज बुद्धि-प्रतिभासंस्कार इतना विकसित और समृद्ध हुआ कि फिर उसमेंसे अनेक शास्त्रोंका निर्माण होने लगा। उपाध्यायजीके ग्रन्थोंके निर्माणका निश्चित स्थान व समय देना अभी संभव नहीं। फिर भी इतना तो

प्रासंगिक वक्तव्य
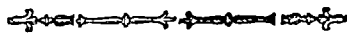
इतः पूर्व सिंघी जैन ग्रन्थमालामें जितने ग्रन्थ प्रकाशित हुए वे मुख्यतया इतिहास विषयक हैं; प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनके साथ, ग्रन्थमाला दर्शन विषयक साहित्यके प्रकाशन कार्यका प्रशस्य प्रारम्भ करती है। मालाके मुख्य सम्पादकत्व और सञ्चालकत्वके सम्बन्धसे, यहाँ पर कुछ वक्तव्य प्रकट करना हमारे लिये प्रासंगिक होगा।

जैसा कि इस ग्रन्थमालाके प्रकाशित सभी ग्रन्थोंके प्रधान मुखपृष्ठ पर इसका कार्य-प्रदेशसूचक उल्लेख अङ्कित किया हुआ है–तदनुसार इसका जैनसाहित्योद्धार विषयक ध्येय तो बहुत विशाल है। मनोरथ तो इसका, जैन-प्रवचनगत 'आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, कथात्मक' इत्यादि सभी विषयके महत्त्वके ग्रन्थोंका, विशिष्टरूपसे संशोधन-सम्पादन कर यथाशक्य उन्हें प्रकाशित करनेका है। परन्तु सबसे पहले अधिक लक्ष्य हमने इतिहास विषयक साहित्यके प्रकाशित करने पर जो दिया है, उसके दो प्रधान कारण हैं। प्रथम तो यह कि–इस विषय पर हमारी, अपने अध्ययनकालके प्रारम्भ ही से कुछ विशेष प्रीति रही और उससे इस विषयमें हमारी कुछ थोड़ी-बहुत गति भी उल्लेख योग्य हुई। इस इतिहासान्वेषणसे हमारी कुछ बौद्धिक सीमा भी विस्तृत हुई और असांप्रदायिक दृष्टि भी विकसित हुई। हमारे स्वानुभवकी यह प्रतीति है कि इस इतिहास विषयक साहित्यके अध्ययन और मननसे जो कुछ तत्त्वावबोध हमें प्राप्त हुआ उससे हमारी बुद्धिकी निरीक्षण और परीक्षण शक्तिमें विशिष्ट प्रगति हुई और भूतकालीन भावोंके स्वरूपको समझनेमें वह यत्किंचित् सम्यग् दृष्टि प्राप्त हुई जो अन्यथा अप्राप्य होती। इस स्वानुभवसे हमारा यह एक दृढ़ मन्तव्य हुआ कि भूतकालीन कोई भी भाव और विचारका यथार्थ अवबोध प्राप्त करनेके लिये सर्व-प्रथम तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितिका सम्यग् ज्ञान प्राप्त होना परमावश्यक है। जैन ग्रन्थभण्डारोंमें इस इतिहासान्वेषणके उपयुक्त बहुत कुछ साहित्यिक सामग्री यत्र तत्र अस्त-व्यस्त रूपमें उपलब्ध होती है, लेकिन उसको परिश्रमपूर्वक संकलित कर, शास्त्रीय पद्धतिसे व्यवस्थित कर, अन्यान्य प्रमाण और उल्लेखादिसे परिष्कृत कर, आलोचनात्मक और ऊहापोहात्मक टीका-टिप्पणीयोंसे विवेचित कर, विद्वद्ग्राह्य और जिज्ञासुजनगम्य रूपमें उसे प्रकाशित करनेका कोई विशिष्ट प्रयत्न अभी तक जैन जनताने नहीं किया। इसलिये इस ग्रन्थमालाके संस्थापक दानशील श्रीमान् बाबू श्रीबहादुर सिंहजी सिंघी–जिनको निजको भी हमारे ही जैसी, इतिहासके विषयमें खूब उत्कट जिज्ञासा है और जो भारतके प्राचीन स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, निष्क एवं पुरातत्त्वके अच्छे मर्मज्ञ हैं और लाखों रूपये व्यय कर जिन्होंने इस विषयकी अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ संगृहीत की है–उनका समानशील विद्याव्यासंगपरक सौहार्दपूर्ण परामर्श पाकर, सबसे पहले हमने, जैन साहित्यके इसी ऐतिहासिक अङ्गको प्रकाशित करनेका उपक्रम किया।

अवश्य ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अन्य जैन साधुओंकी तरह मन्दिरनिर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, संघनिकालना आदि बहिर्मुख धर्मकार्योंमें अपना मनोयोग न लगाकर अपना सारा जीवन जहाँ वे गये और जहाँ वे रहे वहीं एक मात्र शास्त्रोंके चिन्तन तथा नव्य-शास्त्रोंके निर्माण में लगा दिया।

उपाध्यायजीकी सब कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। कुछ तो उपलब्ध हैं पर अधूरी। कुछ बिलकुल अनुपलब्ध हैं। फिर भी जो पूर्ण उपलब्ध हैं, वे ही किसी प्रखर बुद्धिशाली और प्रबल पुरुषार्थीके आजीवन अभ्यासके वास्ते पर्याप्त हैं। उनकी लभ्य, अलभ्य और अपूर्ण लभ्य कृतियोंकी अभी तककी यादी अलग दी जाती है जिसके देखने से ही यहां संक्षेपमें किया जानेवाला उन कृतियोंका सामान्य वर्गीकरण व मूल्याङ्कन पाठकोंके ध्यानमें आ सकेगा।

उपाध्यायजीकी कृतियाँ संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिंदी–मारवाड़ी इन चार भाषाओंमें गद्यबद्ध, पद्यबद्ध और गद्य-पद्यबद्ध हैं। दार्शनिक ज्ञानका असली व व्यापक ख़ज़ाना संस्कृत भाषामें होनेसे तथा उसके द्वारा ही सकल देशके सभी विद्वानोंके निकट अपने विचार उपस्थित करनेका संभव होनेसे उपाध्यायजीने संस्कृतमें तो लिखा ही, पर उन्होंने अपनी जैनपरम्पराकी मूलभूत प्राकृत भाषाको गौण न समझा। इसीसे उन्होंने प्राकृतमें भी रचनाएँ कीं। संस्कृत-प्राकृत नहीं जानने वाले और कम जानने वालों तक अपने विचार पहुँचानेके लिए उन्होंने तत्कालीन गुजराती भाषामें भी विविध रचनाएँ कीं। मौक़ा पाकर कभी उन्होंने हिंदी–मारवाड़ीका भी आश्रय लिया।

विषयदृष्टिसे उपाध्यायजीका साहित्य सामान्य रूपसे आगमिक, तार्किक दो प्रकारका होनेपर भी विशेष रूपसे अनेक विषयावलम्बी है। उन्होंने कर्मतत्त्व, आचार, चरित्र आदि अनेक आगमिक विषयों पर आगमिक शैलीसे भी लिखा है; और प्रमाण, प्रमेय, नय, मङ्गल, मुक्ति, आत्मा, योग आदि अनेक तार्किक विषयों पर भी तार्किकशैलीसे ख़ासकर नव्य तार्किकशैलीसे लिखा है। व्याकरण, काव्य, छन्द, अलङ्कार, दर्शन आदि सभी तत्काल प्रसिद्ध शास्त्रीय विषयों पर उन्होंने कुछ न कुछ पर अति महत्त्वका लिखा ही है।

शैलीकी दृष्टिसे उनकी कृतियाँ खण्डनात्मक भी हैं, प्रतिपादनात्मक भी हैं और समन्वयात्मक भी। जब वे खण्डन करते हैं तब पूरी गहराई तक पहुँचते हैं। प्रतिपादन उनका सूक्ष्म और विशद है। वे जब योगशास्त्र या गीता आदिके तत्त्वोंका जैनमन्तव्यके साथ समन्वय करते हैं तब उनके गम्भीर चिन्तनका और आध्यात्मिक भावका पता चलता है। उनकी अनेक कृतियाँ किसी अन्यके ग्रन्थकी व्याख्या न होकर मूल, टीका या दोनों रूपसे स्वतन्त्र ही हैं, जब कि अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंकी व्याख्यारूप हैं। उपाध्यायजी थे पक्के जैन और श्वेताम्बर। फिर भी विद्या विषयक उनकी दृष्टि इतनी विशाल थी कि वह अपने सम्प्रदाय मात्रमें समा न सकी अतएव उन्होंने पातञ्जल योगसूत्रके ऊपर भी लिखा और अपनी तीव्र समालोचनाकी लक्ष्य–दिगम्बर परम्पराके सूक्ष्म-

और दूसरा कारण यह है कि–जैन वाङ्मयका यह विभाग, जैन धर्म और समाजकी दृष्टिसे तो महत्त्वका है ही, लेकिन तदुपरान्त, यह समुच्चय भारतवर्षके सर्वसाधारण प्रजाकीय और राजकीय इतिहासकी दृष्टिसे भी उतना ही महत्त्वका है। जैनधर्मीय साहित्यका यह ऐतिहासिक अङ्ग जितना परिपुष्ट है उतना भारतके अन्य किसी धर्म या सम्प्रदायका नहीं। न ब्राह्मणधर्मीय साहित्यमें इतनी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है, न बौद्धधर्मीय साहित्यमें। इसलिये जैसा कि हमने ऊपर सूचित किया है, तदनुसार जैन ग्रन्थभण्डारोंमें जहाँ तहाँ नाशोन्मुख दशामें पड़ी हुई यह ऐतिहासिक साधन-सम्पत्ति जो, यदि समुचित रूपसे संशोधित–सम्पादित होकर प्रकाशित हो जाय, तो इससे जैन धर्मके गौरवकी ख्याति तो होगी ही, साथ में भारतके प्राचीन स्वरूपका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेमें भी उससे विशिष्ट सहायता प्राप्त होगी और तद्द्वारा जैन साहित्यकी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा विशेष प्रख्यापित होगी। इन्हीं दो कारणोंसे प्रेरित होकर हमने सबसे पहले इन इतिहास विषयक ग्रन्थोंका प्रकाशन करना प्रारम्भ किया। इसके फलस्वरूप अद्यपर्यन्त, इस विषयके ६–७ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और प्रायः १०–१२ तैयार हो रहे हैं।

अब, प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनके साथ, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, जैन प्रवचनका विशिष्ट आधारभूत जो दार्शनिक अङ्ग है तद्विषयक साहित्यके प्रकाशनका उपक्रम करती है और इसके द्वारा ध्येय-निर्दिष्ट कार्यप्रदेशके एक विशेष महत्त्वके क्षेत्रमें पदार्पण करती है।

जैन साहित्यका यह दार्शनिक विभाग भी, इतिहास-विभागके जितना ही सर्वोपयोगी और आकर्षक महत्त्व रखता है। भारतवर्षकी समुच्चय गंभीर तत्त्वगवेषणाका यह भी एक बहुत बड़ा और महत्त्वका विचारभंडार है। पूर्वकालीन जैन श्रमणोंने आत्मगवेषणा और मोक्षसाधनाके निमित्त जो कठिनसे कठिनतर तपस्या की तथा अगम्यके ध्यानकी और आनन्त्यके ज्ञानकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये जो घोर तितिक्षा अनुभूत की–उसके फल स्वरूप उन्हें भी कई ऐसे अमूल्य विचाररत्न प्राप्त हुए जो जगत्के विशिष्ट कल्याणकारक सिद्ध हुए। अहिंसाका वह महान् विचार जो आज जगत्की शांतिका एक सर्व श्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अप्रतिहत शक्तिके सामने संसारकी सर्व संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं; जैन दर्शन-शास्त्रका मौलिक तत्त्वविचार है। इस अहिंसाकी जो प्रतिष्ठा जैन दर्शनशास्त्रोंने स्थापित की है वह अन्यत्र अज्ञात है। मुक्तिका अनन्य साधन अहिंसा है और उसकी सिद्धि करना यह जैन दर्शनशास्त्रोंका चरम उद्देश है। इसलिये इस अहिंसाके सिद्धान्तका आकलन यह तो जैन दार्शनिकोंका आदर्श रहा ही; लेकिन साथमें, उन्होंने अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तों और तात्त्विक विचारोंके चिन्तनसमुद्रमें भी खूब गहरे गोते लगाये हैं और उसके अन्तस्तल तक पहुँच कर उसकी गंभीरता और विशालताका नाप लेनेके लिये पूरा पुरुषार्थ किया है। भारतीय दर्शनशास्त्रका ऐसा कोई विशिष्ट प्रदेश या कोना बाकी नहीं है जिसमें जैन विद्वानोंकी विचारधाराने मर्मभेदक प्रवेश न किया हो। महावादी सिद्धसेन दिवाकरसे लेकर न्यायाचार्य महोपाध्याय यशोविजयजीके समय तकके–अर्थात् भारतीय दर्शनशास्त्रके समग्र इतिहासमें दृष्टिगोचर होनेवाली प्रारम्भिक संकलनाके उद्गम कालसे लेकर उसके विकासके अन्तिम पर्व तकके सारे ही सर्जन-

नामक गुजरातके सूबेके समक्ष अठारह अवधान किये। इस विद्वत्ता और कुशलतासे आकृष्ट होकर सभीने पं० यशोविजयजीको 'उपाध्याय' पदके योग्य समझा। श्री विजयदेव सूरिके शिष्य श्रीविजयप्रभसूरिने उन्हें सं० १७१८ में वाचक–उपाध्याय पद समर्पण किया।

वि० सं० १७४३ में डभोई गाँव, जो वड़ौदा स्टेटमें अभी मौजूद है उसमें उपाध्यायजीका स्वर्गवास हुआ जहाँ उनकी पादुका वि० सं० १७४५ में प्रतिष्ठित की हुई अभी विद्यमान है।

उपाध्ययजीके शिष्य परिवारका निर्देश 'सुजशवेली' में तो नहीं है पर उनके तत्त्वविजय, आदि शिष्यप्रशिष्योंका पता अन्य साधनोंसे चलता है जिसके वास्ते 'जैनगूर्जरकविओ' भा० २. पृ० २७ देखिए।

उपाध्यायजीके बाह्य जीवनकी स्थूल घटनाओंका जो संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया है, उसमें दो घटनाएँ ख़ास मार्केकी हैं जिनके कारण उपाध्यायजीके आन्तरिक जीवनका स्रोत यहाँतक अन्तर्मुख होकर विकसित हुआ कि जिसके बल पर वे भारतीय साहित्यमें और ख़ासकर जैन परम्परामें अमर हो गए। उनमेंसे पहली घटना अभ्यासके वास्ते काशी जानेकी और दूसरी न्याय आदि दर्शनोंका मौलिक अभ्यास करने की है। उपाध्यायजी कितने ही बुद्धि व प्रतिभासम्पन्न क्यों न होते उनके वास्ते गुजरात आदिमें अध्ययनकी सामग्री कितनी ही क्यों न जुटाई जाती, पर इसमें कोई संदेह ही नहीं कि वे अगर काशीमें न आते तो उनका शास्त्रीय व दार्शनिक ज्ञान, जैसा उनके ग्रन्थोंमें पाया जाता है, संभव न होता। काशीमें आकर भी वे उस समय तक विकसित न्यायशास्त्र ख़ास करके नवीन न्याय-शास्त्रका पूरे बलसे अध्ययन न करते तो उन्होंने जैन-परम्पराको और तद्द्वारा भारतीय साहित्यको जैन विद्वान्‌की हैसियतसे जो अपूर्व भेंट दी है वह कभी संभव न होती।

दसवीं शताब्दीसे नवीन न्यायके विकासके साथ ही समग्र वैदिक दर्शनोंमें ही नहीं बल्कि समग्र वैदिक साहित्यमें सूक्ष्म विश्लेषण और तर्ककी एक नई दिशा प्रारम्भ हुई और उत्तरोत्तर अधिकसे अधिक विचारविकास होता चला जो अभी तक हो ही रहा है। इस नवीनन्यायकृत नव्य युगमें उपाध्यायजीके पहले भी अनेक श्वेताम्बर दिगम्बर विद्वान् हुए जो बुद्धि-प्रतिभासम्पन्न होनेके अलावा जीवन भर शास्त्रयोगी भी रहे फिर भी हम देखते हैं कि उपाध्यायजीके पूर्ववर्ती किसी जैन विद्वान्‌ने जैन मन्तव्योंका उतना सतर्क दार्शनिक विश्लेषण व प्रतिपादन नहीं किया जितना उपाध्यायजीने किया है। इस अन्तरका कारण उपाध्यायजीके काशीगमनमें और नव्य-न्यायशास्त्रके गम्भीर अध्ययनमें ही है। नवीनन्यायशास्त्रके अभ्याससे और तन्मूलक सभी तत्कालीन वैदिक दर्शनोंके अभ्याससे उपाध्यायजीका सहज बुद्धि-प्रतिभासंस्कार इतना विकसित और समृद्ध हुआ कि फिर उसमेंसे अनेक शास्त्रोंका निर्माण होने लगा। उपाध्यायजीके ग्रन्थोंके निर्माणका निश्चित स्थान व समय देना अभी संभव नहीं। फिर भी इतना तो

अवश्य ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अन्य जैन साधुओंकी तरह मन्दिरनिर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, संघनिकालना आदि बहिर्मुख धर्मकार्योंमें अपना मनोयोग न लगाकर अपना सारा जीवन जहाँ वे गये और जहाँ वे रहे वहीं एक मात्र शास्त्रोंके चिन्तन तथा नव्य-शास्त्रोंके निर्माण में लगा दिया।

उपाध्यायजीकी सब कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। कुछ तो उपलब्ध हैं पर अधूरी। कुछ बिलकुल अनुपलब्ध हैं। फिर भी जो पूर्ण उपलब्ध हैं, वे ही किसी प्रखर बुद्धिशाली और प्रबल पुरुषार्थीके आजीवन अभ्यासके वास्ते पर्याप्त हैं। उनकी लभ्य, अलभ्य और अपूर्ण लभ्य कृतियोंकी अभी तककी यादी अलग दी जाती है जिसके देखने से ही यहां संक्षेपमें किया जानेवाला उन कृतियोंका सामान्य वर्गीकरण व मूल्याङ्कन पाठकोंके ध्यानमें आ सकेगा।

उपाध्यायजीकी कृतियाँ संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिंदी—मारवाड़ी इन चार भाषाओंमें गद्यबद्ध, पद्यबद्ध और गद्य-पद्यबद्ध हैं। दार्शनिक ज्ञानका असली व व्यापक ख़ज़ाना संस्कृत भाषामें होनेसे तथा उसके द्वारा ही सकल देशके सभी विद्वानोंके निकट अपने विचार उपस्थित करनेका संभव होनेसे उपाध्यायजीने संस्कृतमें तो लिखा ही, पर उन्होंने अपनी जैनपरम्पराकी मूलभूत प्राकृत भाषाको गौण न समझा। इसीसे उन्होंने प्राकृतमें भी रचनाएँ कीं। संस्कृत-प्राकृत नहीं जानने वाले और कम जानने वालों तक अपने विचार पहुँचानेके लिए उन्होंने तत्कालीन गुजराती भाषामें भी विविध रचनाएँ कीं। मौक़ा पाकर कभी उन्होंने हिंदी—मारवाड़ीका भी आश्रय लिया।

विषयदृष्टिसे उपाध्यायजीका साहित्य सामान्य रूपसे आगमिक, तार्किक दो प्रकारका होनेपर भी विशेष रूपसे अनेक विषयावलम्बी है। उन्होंने कर्मतत्त्व, आचार, चरित्र आदि अनेक आगमिक विषयों पर आगमिक शैलीसे भी लिखा है; और प्रमाण, प्रमेय, नय, मङ्गल, मुक्ति, आत्मा, योग आदि अनेक तार्किक विषयों पर भी तार्किकशैलीसे ख़ासकर नव्य तार्किकशैलीसे लिखा है। व्याकरण, काव्य, छन्द, अलङ्कार, दर्शन आदि सभी तत्काल प्रसिद्ध शास्त्रीय विषयों पर उन्होंने कुछ न कुछ पर अति महत्त्वका लिखा ही है।

शैलीकी दृष्टिसे उनकी कृतियाँ खण्डनात्मक भी हैं, प्रतिपादनात्मक भी हैं और समन्वयात्मक भी। जब वे खण्डन करते हैं तब पूरी गहराई तक पहुँचते हैं। प्रतिपादन उनका सूक्ष्म और विशद है। वे जब योगशास्त्र या गीता आदिके तत्त्वोंका जैनमन्तव्यके साथ समन्वय करते हैं तब उनके गम्भीर चिन्तनका और आध्यात्मिक भावका पता चलता है। उनकी अनेक कृतियाँ किसी अन्यके ग्रन्थकी व्याख्या न होकर मूल, टीका या दोनों रूपसे स्वतन्त्र ही हैं, जब कि अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंकी व्याख्यारूप हैं। उपाध्यायजी थे पक्के जैन और श्वेताम्बर। फिर भी विद्या विषयक उनकी दृष्टि इतनी विशाल थी कि वह अपने सम्प्रदाय मात्रमें समा न सकी अतएव उन्होंने पातञ्जल योगसूत्रके ऊपर भी लिखा और अपनी तीव्र समालोचनाकी लक्ष्य—दिगम्बर परम्पराके सूक्ष्म-

संशोधनमें ख़ास मदद पहुँचाई है। शेष दो व्यक्तियोंमेंसे एक है पञ्जाब गुजरानवाला गुरुकुल का छात्र शांतिलाल जो काशीमे प्राचीन न्याय और जैनागमका अध्ययन करता है। दूसरा है मेवाड छोटी सादडी गोदावत गुरुकुलका छात्र महेन्द्रकुमार जो अभी काशीमें नव्य न्यायका अध्ययन करता है। इन दोनोंने जब चाहा तब निःसंकोचभावसे, क्या लिखनेमें, क्या प्रूफ आदि देखनेमें जहां ज़रूरत हुई उत्साहसे मदद की है। मैं इन तीनोंके हार्दिक सहयोग का कृतज्ञ हूँ।

विशिष्ट कृतज्ञता—संस्करणकी तैयारीसे लेकर उसके छप जाने तकमें सहयोगी होनेवाले सभीका आभार प्रदर्शन कर लेनेपर भी एक विशिष्ट आभार प्रकट करना बाक़ी है और वह है सिंघी सिरीजके प्राण-प्रतिष्ठाता श्रीमान् बाबू बहादुर सिंहजी तथा पण्डित श्रीमान् जिनविजयजीका। इतिहास विशारद श्रीमान् जिनविजयजी मुझको अनेक वर्ष पहिलेसे प्रसङ्ग प्रसङ्ग पर कहा करते थे कि उपाध्यायजीके पाठ्यग्रन्थोंको टीकाटिप्पणी युक्त सुचारु रूपसे तैयार करो जो इस समय बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे। उनका यह परामर्श मुझको अनेक बार प्रेरित करता था पर मैं इसे कार्यरूपमें अभी परिणत कर सका। उनका स्निग्ध और उपयोगी परामर्श प्रथमसे अन्ततक चालू न रहता तो सम्भव है मेरी प्रवृत्ति इस दिशामें न होती। इस कारणसे तथा सिंघी सिरीजमें प्रस्तुत संस्करणको स्थान देना उन्होंने पसन्द किया इस कारणसे मैं श्रीमान् पं० जिनविजयजीका सविशेष कृतज्ञ हूँ। यह कहनेकी ज़रूरत ही नहीं कि काग़ज़ साईज़ टाईप गेटअप आदिकी आख़िरी पसन्दगी योग्यता तथा सिरीजसञ्चालकत्वके नाते उन्हींकी रही और इससे भी मुझको एक आश्वासन ही मिला।

श्रीमान् बाबू बहादुरसिंहजी सिंघीके प्रति विशेष कृतज्ञता प्रकाशित करना इसलिए उचित है कि उनकी सर्वांगपूर्ण साहित्य प्रकाशित करनेकी अभिरूचि और तदनुरूप उदारतामेंसे ही प्रस्तुत सिंघी सिरीजका जन्म हुआ है जिसमें कि प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित हो रही है। विशिष्ट संस्करण तैयार व प्रकाशित करनेमें उपयोगी सभी बाह्य साधन निःसंकोच भावसे जुटानेकी सिरीजकी साधनसम्पत्ति प्राप्त न होती तो धैर्यपूर्वक इतना शान्तचिन्तन शायद ही सम्भव होता।

कार्यका प्रारम्भ, पर्यवसान और विभाजन—ऊपर सूचित किया गया है कि तर्कभाषाके प्रस्तुत संस्करणका बीजन्यास पाटनमें १९३५ मईके प्रारम्भमें किया गया। वहां प्रतियोंसे पाठान्तर लेनेके साथ ही साथ उनकी शुद्धि-अशुद्धिके तरतम भावानुसार विवेक करके वहीं पाठान्तरोंका पृथक्करण और वर्गीकरण कर दिया गया। तदनन्तर अहमदाबादमें उसी छुट्टीमें पुनः अर्थदृष्टिसे ग्रन्थका चिन्तन कर उन पृथक्कृत और वर्गीकृत पाठान्तरोंको यथायोग्य मूल वाचनामें या नीचे पादटीकामें रख दिया। इसके बाद वह कार्य स्थगित रहा जो फिर ई० स० १९३६ के वर्षाकालमें काशीमें शुरू किया गया। उस वक़्त मुख्य काम अवतरणोंके संग्रहका हुआ जिसके अधार पर ई० स० १९३७ के आरम्भमें तर्कभाषाकी वृत्तिके दोनों तात्पर्य और संग्रह अंश तैयार हुए। और उसी समय सारा मैटर प्रेसमें गया

प्रज्ञ तार्किकप्रवर विद्यानन्दके कठिनतर अष्टसहस्री नामक ग्रन्थके ऊपर कठिनतम व्याख्या भी लिखी।

गुजराती और हिंदी—मारवाड़ीमें लिखी हुई उनकी कृतियोंका थोड़ा बहुत वाचन, पठन व प्रचार पहिले ही से रहा है; परंतु उनकी संस्कृत-प्राकृत कृतियोंके अध्ययन-अध्यापनका नामो-निशान भी उनके जीवन कालसे लेकर ३० वर्ष पहले तक देखनेमें नहीं आता। यही सबब है कि ढाई सौ वर्ष जितने कम और खास उपद्रवोंसे मुक्त इस सुरक्षित समयमें भी उनकी सब कृतियाँ सुरक्षित न रहीं। पठन-पाठन न होनेसे उनकी कृतियोंके ऊपर टीका टिप्पणी लिखे जानेका तो संभव रहा ही नहीं पर उनकी नकलें भी ठीक-ठीक प्रमाणमें होने न पाईं। कुछ कृतियाँ तो ऐसी भी मिल रही हैं कि जिनकी सिर्फ़ एक एक प्रति रही। संभव है ऐसी ही एक-एक नकल वाली अनेक कृतियाँ या तो लुप्त हो गईं, या किन्हीं अज्ञात स्थानोंमें तितर बितर हो गईं हों। जो कुछ हो पर अब भी उपाध्ययजीका जितना साहित्य लभ्य है उतने मात्रका ठीक-ठीक पूरी तैयारीके साथ अध्ययन किया जाय तो जैन परम्पराके चारों अनुयोग तथा आगमिक, तार्किक कोई विषय अज्ञात न रहेंगे।

उदयन और गङ्गेश जैसे मैथिल तार्किक पुङ्गवोंके द्वारा जो नव्य तर्कशास्त्रका बीजा-रोपण व विकास प्रारम्भ हुआ और जिसका व्यापक प्रभाव व्याकरण, साहित्य, छन्द, विविध-दर्शन और धर्मशास्त्र पर पड़ा और खूब फ़ैला उस विकाससे वञ्चित सिर्फ दो सम्प्रदायका साहित्य रहा। जिनमेंसे बौद्ध साहित्यकी उस त्रुटिकी पूर्तिका तो संभव ही न रहा था क्योंकि बारहवीं तेरहवीं शताब्दीके बाद भारतवर्षमें बौद्ध विद्वानोंकी परम्परा नाम मात्रको भी न रही इसलिए वह त्रुटि उतनी नहीं अखरती जितनी जैन साहित्यकी वह त्रुटि। क्योंकि जैन-सम्प्रदायके सैकड़ों ही नहीं बल्कि हजारों साधनसम्पन्न त्यागी व कुछ गृहस्थ भारतवर्षके प्रायः सभी भागोंमें मौजूद रहे, जिनका मुख्य व जीवनव्यापी ध्येय शास्त्रचिन्तनके सिवाय और कुछ कहा ही नहीं जा सकता। इस जैन साहित्यकी कमीको दूर करने और अकेले हाथसे पूरी तरह दूर करनेका उज्ज्वल व स्थायी यश अगर किसी जैन विद्वानको है तो वह उपाध्याय यशोविजयजीको ही है।

ग्रन्थ—प्रस्तुत ग्रन्थके जैनतर्कभाषा इस नामकरणका तथा उसे रचनेकी कल्पना उत्पन्न होनेका, उसके विभाग, प्रतिपाद्य विषयका चुनाव आदिका बोधप्रद व मनोरञ्जक इति-हास है जो अवश्य ज्ञातव्य है।

जहाँ तक मालूम है इससे पता चलता है कि प्राचीन समयमें तर्कप्रधान दर्शन ग्रन्थोंके-चाहे वे वैदिक हों, बौद्ध हों या जैन हों—नाम 'न्याय'पदयुक्त हुआ करते थे। जैसे कि न्यायसूत्र, न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायसार, न्यायमञ्जरी, न्यायबिन्दु, न्यायमुख, न्याया-वतार आदि। अगर प्रो० टूचीका रखा हुआ 'तर्कशास्त्र'[1] यह नाम असलमें सच्चा ही है या

---

1. Pre-Dinnag Buddhist Logic गत 'तर्कशास्त्र' नामक ग्रन्थ।

जो १९३८ के प्रारम्भमें ही क्रमशः छप कर तैयार हो गया। इस तरह इस छोटेसे मूल और वृत्ति ग्रन्थने भी करीब पौनेतीन वर्ष ले लिए।

जब कोई छोटा बड़ा काम सम्भूयकारितासे ख़ासकर अनेक व्यक्तियोंके द्वारा सिद्ध करना हो तब उस कार्यके विविध हिस्सोंका विभाग करके व्यक्तिवार बांट लेना ज़रूरी होता है। इस नियमके अनुसार प्रस्तुत संस्करणका कार्यविभाग हम लोगोंने कर लिया। जिसका परिज्ञान अनेक सम्भूयकारी व्यक्तियोंको उपयोगी होगा। इस दृष्टिसे उस विभाजनका यहां संक्षेपमें वर्णन करना प्रस्तुत होगा।

कार्यविभाजनका मूल सिद्धान्त यह है कि जो जिस अंशको अधिक सरलतासे, विशेष पूर्णतासे और विशेष सुचारु रूपसे करनेका अधिकारी हो उसे वह अंश मुख्यतया करनेको सौंपा जाय। दूसरा सिद्धान्त यह भी है कि समूह गत अन्य व्यक्तियाँ भी अपने-अपने अपरिचित अल्पपरिचित या अल्प अभ्यस्त अंशोंको भी दूसरे सहचारियोंके अनुभव व कौशलसे ठीक-ठीक सीख लें और अन्तमें सभी सब अंशोंको परिपूर्णतया सम्पादित करनेके अधिकारी हो जायँ। इन दो सिद्धान्तोंके आधार पर हम तीनोंने अपना-अपना कार्यप्रदेश मुख्यरूपसे स्थिर कर लिया। यों तो किसी एकका कोई ऐसा कार्य न था जिसे दूसरे देखते न हों। पर कार्यविभाग जवाबदेही और मुख्यताकी दृष्टिसे किया गया।

मेरे जिम्मे मूल ग्रन्थकी पाठ शुद्धि तथा लिये गए पाठान्तरोंका शुद्धाशुद्धत्वविवेक-ये दो काम रहे। और संगृहीत अवतरणोंके आधारसे तथा स्वानुभवसे नई वृत्ति लिखनेका काम भी मेरे जिम्मे रहा।

टीका लिखनेमें उपयोगी होनेवाले तथा तुलनामें उपयोगी होनेवाले समग्र अवतरणोंके संग्रहका कार्यभार पं० महेन्द्रकुमारजीके ऊपर रहा। कभी-कभी जरूरतके अनुसार प्रेस प्रूफ और मेटर देखनेका कार्य भी उनके ऊपर आता ही रहा। पर संगृहीत सभी अवतरणोंकी या नवीन लिखित टीकाकी आख़िरी काट छांट करके उसे प्रेस योग्य अन्तिमरूप देनेका तथा अथेतिसमग्र प्रूफोंको देखनेका एवं मूलके नीचे दी हुई तुलना, विषयानुक्रम, परिशिष्ट आदि बाक़ीके सब कामोंका भार पं० दलसुखजीके ऊपर रहा।

अन्तमें मैं यह सत्य प्रगट कर देना उचित समझता हूँ कि मेरे दोनों सहृदय सहकारी मित्र अपनी धीर कुशलतासे मेरा उपयोग न करते तो मैं अपनी नितान्त परतन्त्र स्थितिमें कुछ भी करनेमें असमर्थ था। अतएव अगर इस नये संस्करणकी थोड़ी भी उपयोगिता सिद्ध हो तो उसका सर्वांश श्रेय मेरे दोनों सहकारी मित्रोंको है।

सुखलाल संघवी

प्रमाणसमुच्चयवृत्तिमें निर्दिष्ट 'तर्कशास्त्र' नाम सही है तो उस प्राचीन समयमें पाये जानेवाले न्यायशब्दयुक्त नामोंकी परम्पराका यह एक ही अपवाद है जिसमें कि न्याय शब्दके बदले तर्क शब्द हो। ऐसी परम्पराके होते हुए भी न्याय शब्दके स्थानमें 'तर्क' शब्द लगाकर तर्क-भाषा नाम रखनेवाले और उस नामसे धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दुके पदार्थों पर ही एक प्रकरण लिखनेवाले बौद्ध विद्वान मोक्षाकर हैं, जो बारहवीं शताब्दीके माने जाते हैं। मोक्षाकरकी इस तर्कभाषा कृतिका प्रभाव वैदिक विद्वान् केशव मिश्र पर पड़ा हुआ जान पड़ता है जिससे उन्होंने वैदिक परम्परानुसारी अक्षपादके न्यायसूत्रका अवलम्बन लेकर अपना तर्कभाषा नामक ग्रन्थ तेरहवीं–चौदहवीं शताब्दीमें रचा। मोक्षाकरका जगत्तल बौद्धविहार केशव मिश्रकी मिथिलासे बहुत दूर न होगा ऐसा जान पड़ता है। उपाध्याय यशोविजयजीने बौद्ध विद्वान्की और वैदिक विद्वान्की दोनों 'तर्कभाषाओं' को देखा तब उनकी भी इच्छा हुई कि एक ऐसी तर्कभाषा लिखी जानी चाहिए, जिसमें जैन मन्तव्योंका वर्णन हो। इसी इच्छासे प्रेरित होकर उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ रचा और उसका केवल तर्कभाषा यह नाम न रखकर जैनतर्क-भाषा ऐसा नाम रखा। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपाध्यायजीकी जैनतर्कभाषा रचनेकी कल्पनाका मूल उक्त दो तर्कभाषाओंके अवलोकनमें है। मोक्षाकरीय तर्कभाषाकी प्राचीन ताड-पत्रीय प्रति पाटणके भण्डारमें है जिससे जान पड़ता है कि मोक्षाकरीय तर्कभाषाका जैन भण्डारमें संग्रह तो उपाध्यायजीके पहिले ही हुआ होगा पर केशवमिश्रीय तर्कभाषाके जैन भण्डारमें संगृहीत होनेके विषयमें कुछ भारपूर्वक कहा नहीं जा सकता। संभव है जैन भण्डारमें उसका संग्रह सबसे पहिले उपाध्यायजीने ही किया हो क्योंकि इसकी भी विविध टीकायुक्त अनेक प्रतियाँ पाटण आदि अनेक स्थानोंके जैन साहित्यसंग्रहमें हैं।

मोक्षाकरीय तर्कभाषा तीन परिच्छेदोंमें विभक्त है जैसा कि उसका आधारभूत न्यायबिन्दु भी है। केशवमिश्रीय तर्कभाषामें ऐसे परिच्छेद विभाग नहीं हैं। अतएव उपाध्यायजीकी जैनतर्कभाषाके तीन परिच्छेद करनेकी कल्पनाका आधार मोक्षाकरीय तर्कभाषा है ऐसा कहना असंगत न होगा। जैनतर्कभाषाको रचनेकी, उसके नामकरणकी और उसके विभागकी कल्पनाका इतिहास थोड़ा बहुत ज्ञात हुआ। पर अब प्रश्न यह है कि उन्होंने अपने ग्रन्थका जो प्रतिपाद्य विषय चुना और उसे प्रत्येक परिच्छेदमें विभाजित किया उसका आधार कोई उनके सामने था या उन्होंने अपने आप ही विषयकी पसंदगी की और उसका परिच्छेद अनुसार विभाजन भी किया? । इस प्रश्नका उत्तर हमें भट्टारक अकलङ्कके लघीयस्त्रयके अवलोकनसे मिलता है। उनका लघीयस्त्रय जो मूल पद्यबद्ध है और स्वोपज्ञविवरणयुक्त है उसके मुख्य-तया प्रतिपाद्य विषय तीन हैं–प्रमाण, नय और निक्षेप। उन्हीं तीन विषयोंको लेकर न्याय प्रस्थापक अकलङ्कने तीन विभागमें लघीस्त्रयको रचा जो तीन प्रवेशमें विभाजित है। बौद्ध–वैदिक दो तर्कभाषाओंके अनुकरणरूपसे जैनतर्कभाषा बनानेकी उपाध्यायजीकी इच्छा तो हुई थी ही पर उन्हें प्रतिपाद्य विषयकी पसंदगी तथा उसके विभागके वास्ते अकलङ्ककी कृति मिल गई जिससे उनकी ग्रन्थनिर्माणयोजना ठीक बन गई। उपाध्यायजीने देखा

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयविरचित ग्रन्थों की सूची ।

लभ्य ग्रन्थ

१ अध्यात्ममतपरीक्षा (स्वोपज्ञटीका)
२ अध्यात्मसारः
३ अध्यात्मोपनिषत्
४ अनेकान्तव्यवस्था
५ आध्यात्मिकमतदलनम् (स्वोपज्ञटीका)
६ आराधकविराधकचतुर्भङ्गी („)
७ अष्टसहस्रीविवरणम्
८ उपदेशरहस्यम् („)
९ ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका („)
१० कर्मप्रकृतिटीका
११ गुरुतत्त्वविनिश्चयः
१२ ज्ञानबिन्दुः
१३ ज्ञानसारः
१४ जैनतर्कभाषा
१५ देवधर्मपरीक्षा
१६ द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका („)
१७ धर्मपरीक्षा („)
१८ धर्मसंग्रहटिप्पनम्
१९ नयप्रदीपः („)
२० नयोपदेशः (स्वोपज्ञनयामृततरंगिणी टीका)
२१ नयरहस्यम्
२२ निशाभक्तप्रकरणम्
२३ न्यायखण्डखाद्यम्–वीरस्तवः (स्वोपज्ञटीका)
२४ न्यायालोकः
२५ परमात्मपञ्चविंशतिका
२६ परमज्योतिपञ्चविंशतिका
२७ पातञ्जलयोगदर्शनविवरणम्
२८ प्रतिमाशतकम् („)
२९ भाषारहस्यम् („)
३० मार्गपरिशुद्धिः
३१ यतिलक्षणसमुच्चयः
३२ योगविंशिकाटीका
३३ वैराग्यकल्पलता
३४ योगदीपिका (षोडशकवृत्तिः)
३५ सामाचारीप्रकरणम् (स्वोपज्ञटीका)
३६ स्याद्वादकल्पलता (शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका)
३७ स्तोत्रावलिः
३८ संखेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्रम् ।
३९ समीकापार्श्वनाथस्तोत्रम् ।
४० आदिजिनस्तवनम्, विजयप्रभसूरिस्वाध्यायः गोडीपार्श्वनाथस्तोत्रादिः, द्रव्यपर्याययुक्तिः इत्यादि ।

अपूर्णलभ्य ग्रन्थ

१ अस्पृशद्गतिवादः
२ उत्पाद व्यय-ध्रौव्यसिद्धिटीका
३ कर्मप्रकृतिलघुवृत्तिः
४ कूपदृष्टान्तविशदीकरणम्
५ ज्ञानार्णवः सटीकः
६ तिङन्तान्वयोक्तिः
७ तत्त्वार्थटीका

अलभ्य ग्रन्थ

१ अध्यात्मोपदेशः
२ अलङ्कारचूडामणिटीका
३ अनेकान्तप्रवेशः
४ आत्मख्यातिः
५ आकरग्रन्थः (?)
६ काव्यप्रकाशटीका
७ ज्ञानसारावचूर्णिः
८ छन्दश्चूडामणिः
९ तत्त्वालोकस्वोपज्ञविवरणम्
१० त्रिसूत्र्यालोकः
११ द्रव्यालोकस्वोपज्ञविवरणम्
१२ न्यायबिन्दुः
१३ प्रमाणरहस्यम्
१४ मंगलवादः
१५ लताद्वयम्
१६ वादमाला
१७ वादार्णवः
१८ वादरहस्यम्
१९ विधिवादः
२० वेदान्तनिर्णयः
२१ शठप्रकरणम्
२२ सिद्धान्ततर्कपरिष्कारः
२३ सिद्धान्तमञ्जरीटीका
२४ स्याद्वादरहस्यम्
२५ स्याद्वादमञ्जुषा (स्याद्वमञ्जरीटीका)

कि लघीयस्त्रयमें प्रमाण, नय, और निक्षेपका वर्णन है पर वह प्राचीन होनेसे इस विकसित युगके वास्ते पर्याप्त नहीं है। इसी तरह शायद उन्होंने यह भी सोचा हो कि दिगम्बराचार्यकृत लघीयस्त्रय जैसा, पर नवयुगके अनुकूल विशेषोंसे युक्त श्वेताम्बर परम्पराका भी एक ग्रन्थ होना चाहिए। इसी इच्छा से प्रेरित होकर नामकरण आदिमें मोक्षाकर आदिका अनुसरण करते हुए भी उन्होंने विषयकी पसंदगीमें तथा उसके विभाजनमें जैनाचार्य अकलङ्कका ही अनुसरण किया।

उपाध्यायजीके पूर्ववर्ती श्वेताम्बर-दिगम्बर अनेक आचार्योंके तर्क विषयक सूत्र व प्रकरण ग्रन्थ हैं पर अकलङ्कके लघीयस्त्रयके सिवाय ऐसा कोई तर्क विषयक ग्रन्थ नहीं है जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेप तीनोंका तार्किक शैलीसे एक साथ निरूपण हो। अतएव उपाध्यायजीकी विषय पसंदगीका आधार लघीयस्त्रय ही है इसमें तनिक भी संदेह नहीं रहता। इसके सिवाय उपाध्यायजीकी प्रस्तुत कृतिमें लघीयस्त्रयके अनेक वाक्य ज्योंके त्यों हैं जो उसके आधारत्वके अनुमानको और भी पुष्ट करते हैं।

बाह्यस्वरूपका थोड़ा सा इतिहास जान लेनेके बाद आन्तरिक स्वरूपका भी ऐतिहासिक वर्णन आवश्यक है। जैनतर्कभाषाके विषयनिरूपणके मुख्य आधारभूत दो जैन ग्रन्थ हैं—सटीक विशेषावश्यकभाष्य और सटीक प्रमाणनयतत्त्वालोक। इसी तरह इसके निरूपणमें मुख्यतया आधारभूत दो न्याय ग्रन्थ भी हैं—कुसुमाञ्जलि और चिन्तामणि। इसके अलावा विषय निरूपणमें दिगम्बरीय न्यायदीपिकाका भी थोड़ा सा साक्षात् उपयोग अवश्य हुआ है। जैनतर्कभाषाके नयनिरूपण आदिके साथ लघीयस्त्रय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिका शब्दशः सादृश्य अधिक होनेसे यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इसमें लघीयस्त्रय तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकका साक्षात् उपयोग क्यों नहीं मानते, पर इसका जवाब यह है कि उपाध्यायजीने जैनतर्कभाषाके विषयनिरूपणमें वस्तुतः सटीक प्रमाणनयतत्त्वालोकका तार्किक ग्रन्थ रूपसे साक्षात् उपयोग किया है। लघीयस्त्रय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि दिगम्बरीय ग्रन्थोंके आधारसे सटीक प्रमाणनयतत्त्वालोककी रचना की जानेके कारण जैनतर्कभाषाके साथ लघीयस्त्रय और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकका शब्दसादृश्य सटीक प्रमाणनयतत्त्वालोकके द्वारा ही आया है, साक्षात् नहीं।

मोक्षाकरने धर्मकीर्त्तिके न्यायबिन्दुको आधारभूत रखकर उसके कतिपय सूत्रोंकी व्याख्यारूपसे थोड़ा बहुत अन्य अन्य शास्त्रार्थीय विषय पूर्ववर्ती बौद्ध ग्रन्थोंमें से लेकर अपनी नातिसंक्षिप्त नातिविस्तृत ऐसी पठनोपयोगी तर्कभाषा लिखी। केशव मिश्रने भी अक्षपादके प्रथम सूत्रको आधार रख कर उसके निरूपणमें संक्षेप रूपसे नैयायिकसम्मत सोलह पदार्थ और वैशेषिकसम्मत सात पदार्थोंका विवेचन किया। दोनोंने अपने अपने मन्तव्यकी सिद्धि करते हुए तत्कालीन विरोधी मन्तव्योंका भी जहाँ तहाँ खण्डन किया है। उपाध्यायजीने भी इसी सरणीका अवलम्बन करके जैनतर्कभाषा रची। उन्होंने मुख्यतया प्रमाणनयतत्त्वालोकके सूत्रोंको ही जहाँ संभव है आधार बनाकर उनकी व्याख्या अपने ढंगसे की है। व्याख्यामें खास कर पञ्चज्ञाननिरूपणके प्रसङ्गमें सटीक विशेषावश्यकभाष्यका ही अवलम्बन है। बाकीके प्रमाण और नय निरूपणमें प्रमाणनयतत्त्वालोककी व्याख्या—रत्नाकरका अवलम्बन है अथवा

जो १९३८ के प्रारम्भमें ही क्रमशः छप कर तैयार हो गया। इस तरह इस छोटेसे मूल और वृत्ति ग्रन्थने भी करीब पौनेतीन वर्ष ले लिए।

जब कोई छोटा बड़ा काम सम्भूयकारितासे ख़ासकर अनेक व्यक्तियोंके द्वारा सिद्ध करना हो तब उस कार्यके विविध हिस्सोंका विभाग करके व्यक्तिवार बांट लेना ज़रूरी होता है। इस नियमके अनुसार प्रस्तुत संस्करणका कार्यविभाग हम लोगोंने कर लिया। जिसका परिज्ञान अनेक सम्भूयकारी व्यक्तियोंको उपयोगी होगा। इस दृष्टिसे उस विभाजनका यहां संक्षेपमें वर्णन करना प्रस्तुत होगा।

कार्यविभाजनका मूल सिद्धान्त यह है कि जो जिस अंशको अधिक सरलतासे, विशेष पूर्णतासे और विशेष सुचारु रूपसे करनेका अधिकारी हो उसे वह अंश मुख्यतया करनेको सौंपा जाय। दूसरा सिद्धान्त यह भी है कि समूह गत अन्य व्यक्तियाँ भी अपने-अपने अपरिचित अल्पपरिचित या अल्प अभ्यस्त अंशोंको भी दूसरे सहचारियोंके अनुभव व कौशलसे ठीक-ठीक सीख लें और अन्तमें सभी सब अंशोंको परिपूर्णतया सम्पादित करनेके अधिकारी हो जायँ। इन दो सिद्धान्तोंके आधार पर हम तीनोंने अपना-अपना कार्यप्रदेश मुख्यरूपसे स्थिर कर लिया। यों तो किसी एकका कोई ऐसा कार्य न था जिसे दूसरे देखते न हों। पर कार्यविभाग जवाबदेही और मुख्यताकी दृष्टिसे किया गया।

मेरे जिम्मे मूल ग्रन्थकी पाठ शुद्धि तथा लिये गए पाठान्तरोंका शुद्धाशुद्धत्वविवेक-ये दो काम रहे। और संगृहीत अवतरणोंके आधारसे तथा स्वानुभवसे नई वृत्ति लिखनेका काम भी मेरे जिम्मे रहा।

टीका लिखनेमें उपयोगी होनेवाले तथा तुलनामें उपयोगी होनेवाले समग्र अवतरणोंके संग्रहका कार्यभार पं० महेन्द्रकुमारजीके ऊपर रहा। कभी-कभी जरूरतके अनुसार प्रेस प्रूफ और मैटर देखनेका कार्य भी उनके ऊपर आता ही रहा। पर संगृहीत सभी अवतरणोंकी या नवीन लिखित टीकाकी आख़िरी काट छांट करके उसे प्रेस योग्य अन्तिमरूप देनेका तथा अथेतिसमग्र प्रूफोंको देखनेका एवं मूलके नीचे दी हुई तुलना, विषयानुक्रम, परिशिष्ट आदि बाक़ीके सब कामोंका भार पं० दलसुखजीके ऊपर रहा।

अन्तमें मैं यह सत्य प्रगट कर देना उचित समझता हूँ कि मेरे दोनों सहृदय सहकारी मित्र अपनी धीर कुशलतासे मेरा उपयोग न करते तो मैं अपनी नितान्त परतन्त्र स्थितिमें कुछ भी करनेमें असमर्थ था। अतएव अगर इस नये संस्करणकी थोड़ी भी उपयोगिता सिद्ध हो तो उसका सर्वांश श्रेय मेरे दोनों सहकारी मित्रोंको है।

सुखलाल संघवी

यों कहना चाहिए कि पञ्चज्ञान और निक्षेपकी चर्चा तो विशेषावश्यकभाष्य और उसकी वृत्तिका संक्षेप मात्र है और परोक्ष प्रमाणोंकी तथा नयोंकी चर्चा प्रमाणनयतत्त्वालोककी व्याख्या-रत्नाकरका संक्षेप है। उपाध्यायजी जैसे प्राचीन नवीन सकल दर्शनके बहुश्रुत विद्वान्‌की कृतिमें कितना ही संक्षेप क्यों न हो पर उसमें पूर्वपक्ष या उत्तरपक्ष रूपसे किंवा वस्तुविश्लेषण रूपसे शास्त्रीय विचारोंके अनेक रंग पूरे जानेके कारण यह संक्षिप्त ग्रन्थ भी एक महत्त्वकी कृति बन गया है। वस्तुतः जैनतर्कभाषा यह आगमिक तथा तार्किक पूर्ववर्ती जैन प्रमेयोंका किसी हद तक नव्यन्यायकी परिभाषामें विश्लेषण है तथा उनका एक जगह संग्रह रूपसे संक्षिप्त पर विशद वर्णन मात्र है।

प्रमाण और नयकी विचारपरम्परा श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें समान है पर निक्षेपोंकी चर्चा-परम्परा उतनी समान नहीं। लघीयस्त्रयमें जो निक्षेपनिरूपण है और उसकी विस्तृत व्याख्या कुमुदचन्द्रमें जो वर्णन है वह विशेषावश्यक भाष्यकी निक्षेप चर्चासे इतना भिन्न अवश्य है जिससे यह कहा जा सके कि तत्त्वमें भेद न होने पर भी निक्षेपोंकी चर्चा दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परंपरामें किसी अंशमें भिन्नस्वरूपसे पुष्ट हुई, जैसा कि जीवकांड तथा चौथे कर्मग्रन्थके विषयके बारेमें कहा जा सकता है। उपाध्यायजीने जैनतर्कभाषाके बाह्यरूपकी रचनामें लघी-यस्त्रयका अवलम्बन लिया जान पड़ता है; फिर भी उन्होंने अपनी निक्षेप चर्चा तो पूर्णतया विशेषावश्यकभाष्यके आधारसे ही की है।

तात्पर्यसंग्रहा वृत्ति—पठनपाठनका प्रचार न होनेके कारण जैनतर्कभाषाके ऊपर पीछेसे भी कोई मूलानुरूप उपयुक्त व्याख्याकी रचना अबतक हुई न थी। पिछले तीन वर्षोंसे यह तर्कभाषा बनारस क्वीन्स कालेजके तथा हिन्दू युनिवर्सिटीके जैन अभ्यासक्रममें रखी गई और इसके अभ्यासी भी तैयार होने लगे। तब इसके स्पष्टीकरणका प्रश्न विशेषरूपसे सामने आया। यों तो पचीस वर्षके पहिले जब मेरे मित्र पण्डित भगवानदास—महावीर जैन विद्यालय बंबईके धर्माध्यापकने इस तर्कभाषामेंसे कुछ मुझसे पूछा तभीसे इसकी ओर मेरा ध्यान गया था। इसके बाद भी इसपर थोड़ासा विचार करनेका तथा इसके गूढ़ भावोंको स्पष्ट करनेका जब जब प्रसंग आया तब तब मनमें यह होता था कि इसके ऊपर एक अच्छी व्याख्या आवश्यक है। लम्बे समयकी इस भावना को कार्यमें परिणत करनेका अवसर तो इसके पाठ्यक्रममें रखे जानेके बाद ही आया। जैनतर्कभाषाके पुनः छपानेके प्रश्नके साथ ही इसके ऊपर एक व्याख्या लिखनेका भी प्रश्न आया। और अन्तमें निर्णय किया कि इसपर व्याख्या लिखी ही जाय।

अनेक मित्रोंकी ख़ास कर पं० श्रीमान् जिनविजयजीकी इच्छा रही कि टीका संस्कृतमें ही लिखना ठीक होगा। इसपर मेरे दोनों मित्र—पं० महेन्द्रकुमार—अध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारस तथा पं० दलसुख मालवणिया—के साथ परामर्श किया कि व्याख्याका स्वरूप कैसा हो?। अन्तमें हम तीनोंने टीकाका स्वरूप निश्चित कर तदनुसार ही जैनतर्क भाषाके ऊपर यह वृत्ति लिखी, और इसका नाम तात्पर्यसंग्रहा रखा। नामकी योजना अर्थानुसारिणी होनेसे इसके पीछेका भाव बतला देना जरूरी है जिससे अभ्यासी उसका मूल्य व उपयोग समझ सकें।

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयविरचित ग्रन्थों की सूची।

लभ्य ग्रन्थ

१ अध्यात्ममतपरीक्षा (स्वोपज्ञटीका)
२ अध्यात्मसारः
३ अध्यात्मोपनिषत्
४ अनेकान्तव्यवस्था
५ आध्यात्मिकमतदलनम् (स्वोपज्ञटीका)
६ आराधकविराधकचतुर्भङ्गी („)
७ अष्टसहस्रीविवरणम्
८ उपदेशरहस्यम् („)
९ ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका („)
१० कर्मप्रकृतिटीका
११ गुरुतत्त्वविनिश्चयः
१२ ज्ञानबिन्दुः
१३ ज्ञानसारः
१४ जैनतर्कभाषा
१५ देवधर्मपरीक्षा
१६ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका („)
१७ धर्मपरीक्षा („)
१८ धर्मसंग्रहटिप्पनम्
१९ नयप्रदीपः („)
२० नयोपदेशः (स्वोपज्ञनयामृततरंगिणी टीका)
२१ नयरहस्यम्
२२ निशाभक्तप्रकरणम्
२३ न्यायखण्डखाद्यम्-वीरस्तवः (स्वोपज्ञटीका)
२४ न्यायालोकः
२५ परमात्मपञ्चविंशतिका
२६ परमज्योतिपञ्चविंशतिका
२७ पातञ्जलयोगदर्शनविवरणम्
२८ प्रतिमाशतकम् („)
२९ भाषारहस्यम् („)
३० मार्गपरिशुद्धिः
३१ यतिलक्षणसमुच्चयः
३२ योगविंशिकाटीका
३३ वैराग्यकल्पलता
३४ योगदीपिका (षोडशकवृत्तिः)
३५ सामाचारीप्रकरणम् (स्वोपज्ञटीका)
३६ स्याद्वादकल्पलता (शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका)
३७ स्तोत्रावलिः
३८ शंखेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्रम्।
३९ समीकापार्श्वनाथस्तोत्रम्।
४० आदिजिनस्तवनम्, विजयप्रभसूरिस्वाध्यायः गोडीपार्श्वनाथस्तोत्रादिः, द्रव्यपर्याययुक्तिः इत्यादि।

अपूर्णलभ्य ग्रन्थ

१ अस्पृशद्गतिवादः
२ उत्पाद व्यय-ध्रौव्यसिद्धिटीका
३ कर्मप्रकृतिलघुवृत्तिः
४ कूपदृष्टान्तविशदीकरणम्
५ ज्ञानार्णवः सटीकः
६ तिङन्तान्वयोक्तिः
७ तत्त्वार्थटीका

अलभ्य ग्रन्थ

१ अध्यात्मोपदेशः
२ अलङ्कारचूडामणिटीका
३ अनेकान्तप्रवेशः
४ आत्मख्यातिः
५ आकरग्रन्थः (?)
६ काव्यप्रकाशटीका
७ ज्ञानसारावचूर्णिः
८ छन्दश्चूडामणिः
९ तत्त्वालोकस्वोपज्ञविवरणम्
१० त्रिसूत्र्यालोकः
११ द्रव्यालोकस्वोपज्ञविवरणम्
१२ न्यायबिन्दुः
१३ प्रमाणरहस्यम्
१४ मंगलवादः
१५ लताद्वयम्
१६ वादमाला
१७ वादार्णवः
१८ वादरहस्यम्
१९ विधिवादः
२० वेदान्तनिर्णयः
२१ शठप्रकरणम्
२२ सिद्धान्ततर्कपरिष्कारः
२३ सिद्धान्तमञ्जरीटीका
२४ स्याद्वादरहस्यम्
२५ स्याद्वादमञ्जुषा (स्याद्वमञ्जरीटीका)

इस वृत्तिकी रचना दो दृष्टिओंसे हुई है—एक संग्रहदृष्टि और दूसरी तात्पर्यदृष्टि। उपाध्यायजीने जहाँ जहाँ विशेषावश्यकभाष्यके तथा प्रमाणनयतत्त्वालोकके पदार्थोंको लेकर उनपर उक्त दो ग्रन्थोंकी अतिविस्तृत व्याख्या मलधारिवृत्ति तथा स्याद्वादरत्नाकरका अति संक्षेप करके अपनी चर्चा की है वहाँ उपाध्यायजीकृत संक्षिप्त चर्चाके ऊपर अपनी ओरसे विशेष ख़ुलासा या विशेष चर्चा करना इसकी अपेक्षा ऐसे स्थलोंमें उक्त मलधारिवृत्ति तथा स्याद्वादरत्नाकरमेंसे आवश्यक भागोंका संग्रह करना हमने लाभदायक तथा विशेष उपयुक्त समझा, जिससे उपाध्यायजीकी संक्षिप्त चर्चाओंके मूल स्थानों का ऐतिहासिक दृष्टिसे पता भी चल जाय और वे संक्षिप्त चर्चाएँ उन मूल ग्रन्थोंके उपयुक्त अवतरणों द्वारा विशद भी हो जायँ, इसी आशयसे ऐसे स्थलोंमें अपनी ओरसे खास कुछ न लिख कर आधारभूत ग्रन्थोंमें से आवश्यक अवतरणोंका संग्रह ही इस वृत्तिमें किया गया है। यही हमारी संग्रहदृष्टि है। इस दृष्टिसे अवतरणोंका संग्रह करते समय यह वस्तु खास ध्यानमें रखी है कि अनावश्यक विस्तार या पुनरुक्ति न हो। अतएव मलधारिवृत्ति और स्याद्वादरत्नाकरमें से अवतरणोंको लेते समय बीच-बीचमें से बहुत-सा भाग छोड़ भी दिया है। पर इस बातकी ओर ध्यान रखनेकी पूरी चेष्टा की है कि उस-उस स्थलमें तर्कभाषाका मूल पूर्ण रूपेण स्पष्ट किया जाय। साथ ही अवतरणोंके मूल स्थानोंका पूरा निर्देश भी किया है जिससे विशेष जिज्ञासु उन मूल ग्रन्थोंमें से भी उन चर्चाओंको देख सके।

उपाध्यायजी केवल परोपजीवी लेखक नहीं थे। इससे उन्होंने अनेक स्थलोंमें पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थोंमें प्रतिपादित विषयों पर अपने दार्शनिक एवं नव्यन्याय शास्त्रके अभ्यासका उपयोग करके थोड़ा बहुत नया भी लिखा है। कई जगह तो उनका लेख बहुत संक्षिप्त और दुरूह है। कई जगह संक्षेप न होनेपर भी नव्यन्यायकी परिभाषाके कारण वह अत्यन्त कठिन हो गया है। जैन परंपरामें न्यायशास्त्रका खास करके नव्यन्यायशास्त्रका विशेष अनुशीलन न होनेसे ऐसे गम्भीर स्थलोंके कारण जैनतर्कभाषा जैन परंपरामें उपेक्षित सी हो गई है। यह सोच कर ऐसे दुरूह तथा कठिन स्थलोंका तात्पर्य इस वृत्तिमें बतला देना यह भी हमें उचित जान पड़ा। यही हमारी इस वृत्तिकी रचनाके पीछे तात्पर्यदृष्टि है। इस दृष्टिके अनुसार हमने ऐसे स्थलोंमें उपाध्यायजीके वक्तव्यका तात्पर्य तो बतलाया ही है पर जहां तक हो सका उनके प्रयुक्त पदों तथा वाक्योंका शब्दार्थ बतलानेकी ओर भी ध्यान रखा है। जिससे मूलग्रन्थ शब्दतः लग जाय और तात्पर्य भी ज्ञात हो जाय।

तात्पर्य बतलाते समय कहीं उत्थानिकामें तो कहीं व्याख्यामें ऐतिहासिक दृष्टि रखकर उन ग्रन्थोंका सावतरण निर्देश भी कर दिया है जिनका भाव मनमें रखकर उपाध्यायजीके द्वारा लिखे जानेकी हमारी समझ है और जिन ग्रन्थों को देखकर विशेषार्थी उस-उस स्थानकी बातको और स्पष्टताके साथ समझ सके।

इस तर्कभाषाका प्रतिपाद्य विषय ही सूक्ष्म है। तिस पर उपाध्यायजीकी सूक्ष्म विवेचना और उनकी यत्रतत्र नव्यन्याय परिभाषा इन सब कारणोंसे मूल तर्कभाषा ऐसी सुगम नहीं

विषयानुक्रमः ।

जैसीकि साधारण अभ्यासी अपेक्षा रखे। संग्रह द्वारा या तात्पर्य वर्णन द्वारा तर्कभाषाको सरल बनानेका कितना ही प्रयत्न क्यों न किया गया हो, पर ऐसा कभी सम्भव नहीं है कि प्राचीन नवीन न्यायशास्त्रके और इतर दर्शनोंके अमुक निश्चित अभ्यासके सिवाय वह किसी तरह समझनेमें आ सके। मूल ग्रन्थ कठिन हो तो उसकी सरल व्याख्या भी अन्ततो गत्वा कठिन ही रहती है। अतएव इस तात्पर्यसंग्रहा वृत्तिको कोई कठिन समझे तब उसके वास्ते यह ज़रूरी है कि वह जैनतर्कभाषा मूल और इस नव्यवृत्तिको समझनेकी प्राथमिक तैयारी करनेके बाद ही इसे पढ़नेका विचार करे।

इस वृत्तिका उक्त दो दृष्टियोंके कारण तात्पर्यसंग्रहा ऐसा नाम रखा है पर इसमें एक विशेषता अवश्य ज्ञातव्य है। वह यह की जहाँ मूलग्रन्थोंमेंसे अवतरणोंके संग्रह ही मुख्यतया हैं वहां भी व्याख्येय भागका तात्पर्य ऐसे संग्रहोंके द्वारा स्पष्ट करनेकी दृष्टि रखी गई है और जहां अपनी ओरसे व्याख्या करके व्याख्येय भागका तात्पर्य बतलानेकी प्रधान दृष्टि रखी है वहां भी उस तात्पर्यके आधारभूत जैन जैनेतर ग्रन्थोंका सूचन द्वारा संग्रह करनेका भी ध्यान रखा है।

प्रतिओंका परिचय—प्रस्तुत संस्करण तैयार करनेमें चार आदर्शोंका उपयोग किया गया है जिनमें तीन लिखित प्रतियां और एक छपी नकल समाविष्ट हैं। छपी नकल तो वही है जो भावनगरस्थ जैनधर्म प्रसारक सभा द्वारा प्रकाशित न्यायाचार्य श्री यशोविजय कृत ग्रन्थमालाके अन्तर्गत (पृ० ११३ से पृ० १३२) है। हमने इसका संकेत मुद्रितार्थ सूचक **मु०** रखा है। मुद्रित प्रति अधिकांश सं० प्रतिसे मिलती है।

शेष तीन हस्तलिखित प्रतिओंके **प्र० सं० व०** ऐसे संकेत हैं। **प्र०** संज्ञक प्रति प्रवर्तक श्रीमत् कान्तिविजयजीके पुस्तकसंग्रह की है। **सं०** और **व०** संज्ञक दो प्रतियां पाटनगत संघके पुस्तक संग्रह की हैं। संघका यह संग्रह वखतजीकी शेरीमें मौजूद है। अतएव एक ही संग्रह की दो प्रतिओंमेंसे एकका संकेत **सं०** और दूसरीका संकेत **व०** रखा है। उक्त तीन प्रतिओंका परिचय संक्षेपमें क्रमशः इस प्रकार है।

प्र०—यह प्रति १७ पत्र परिमाण है। इसकी लम्बाई—चौड़ाई ९॥×४। इञ्च है। प्रत्येक पृष्ठमें १५ पंक्तियां हैं। प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर संख्या ४९ से ५२ तक है। लिपि सुन्दर है। प्रति किसीके द्वारा संशोधित है और शुद्धप्रायः है। पन्ने चिपक जानेसे अक्षर घिसे हुए हैं फिर भी दुष्पठ नहीं हैं। किनारियोंमें दीमकका असर है। अन्तमें पुष्पिका है—वह इस प्रकार—

छ० सम्वत् १७३६ वर्षे आषाढशुदि ८ शनौ दिने लिखितं पं० मोहनदास पं० रविवर्द्धनपठनार्थं०

सं०—यह प्रति संघके भाण्डारगत डिब्बा नं० ४० में पोथी नं० ३६ में है जो पोथी 'जैनतर्कभाषादि प्रकरण' इस नामसे अङ्कित है। इस पोथीमें ४० से ५३ तकके पत्रोंमें

महोपाध्यायश्रीयशोविजयकृता

॥ जैन तर्कभाषा ॥

१. प्रमाणपरिच्छेदः ।

ऐन्द्रवृन्दनतं नत्वा जिनं तत्त्वार्थदेशिनम् ।
प्रमाणनयनिक्षेपैस्तर्कभाषां तनोम्यहम् ॥[1]

[१. प्रमाणसामान्यस्य लक्षणनिरूपणम् ।]

§ १. तत्र–स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्[2]–स्वम्[3] आत्मा ज्ञानस्यैव स्वरूपमित्यर्थः, परः तस्मादन्योऽर्थ इति यावत्, तौ व्यवस्यति यथास्थिततत्त्वेन निश्चिनोतीत्येवंशीलं स्वपरव्यवसायि। अत्र दर्शनेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम्। संशयविपर्ययानध्यवसायेषु तद्वारणाय व्यवसायिपदम् । परोक्षबुद्ध्यादिवादिनां मीमांसकादीनाम्, बाह्यार्थापलापिनां ज्ञानाद्यद्वैतवादिनां च मतनिरासाय स्वपरेति स्वरूपविशेषणार्थमुक्तम्। ननु यद्येवं सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणमिष्यते तदा किमन्यत् तत्फलं वाच्यमिति चेत् ; सत्यम् ; स्वार्थव्यवसितेरेव तत्फलत्वात् । नन्वेवं प्रमाणे स्वपरव्यवसायित्वं न स्यात्, प्रमाणस्य परव्यवसायित्वात् फलस्य च स्वव्यवसायित्वादिति चेत् ; न ; प्रमाण-फलयोः कथञ्चिदभेदेन तदुपपत्तेः । इत्थं चात्मव्यापाररूपमुपयोगेन्द्रियमेव प्रमाणमिति स्थितम् ; न ह्यव्यापृत आत्मा स्पर्शादिप्रकाशको भवति, निर्व्यापारेण कारकेण क्रियाजननायोगात्, मसृणतूलिकादिसन्निकर्षेण सुषुप्तस्यापि तत्प्रसङ्गाच्च ।

§ २. केचित्तु–

"ततोऽर्थग्रहणाकारा शक्तिर्ज्ञानमिहात्मनः ।
करणत्वेन निर्दिष्टा न विरुद्धा कथञ्चन ॥ १ ॥"

[तत्त्वार्थश्लोकवा० १.१.२२]

इति–लब्धीन्द्रियमेवार्थग्रहणशक्तिलक्षणं प्रमाणं सङ्गिरन्ते; तदपेशलम् ; उपयोगात्मना

१–०निःक्षेपै०–प्र० सं० व० । २ प्र. न. १. २. । ३ स्या. र. पृ० ३३-३४ । ४ स्या. र. पृ० ५० ।

तर्कभाषा है। इसकी लम्बाई–चौड़ाई १०×४॥ इञ्च है। प्रत्येक पृष्ठमें १७ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्तिमें ४४ से ५५ तक अक्षर संख्या है। संशोधित और टिप्पण युक्त है। पानीसे भीगी हुई होनेपर भी लिपि बिगड़ी नहीं है। जीर्णप्राय है। इसके अन्तमें पुष्पिका आदि कुछ नहीं है।

व०—यह प्रति संघके भण्डारगत डिब्बा नं० २७ पोथी नं० २५ में मौजूद है। इसके २२ पत्र हैं। जिनमें हर एक पृष्ठमें पंक्ति १५–१५ और प्रत्येक पंक्तिमें ३८–४० अक्षर संख्या है। इसकी लम्बाई–चौड़ाई १०×४॥ ईञ्च है।

आभारप्रदर्शन—प्रस्तुत संस्करणमें सर्वप्रथम सहायक होनेवाले वयोवृद्ध सम्मानार्ह प्रवर्तक श्रीमत् कान्तिविजयजीके प्रशिष्य श्रद्धेय मुनि श्री पुण्यविजयजी हैं जिन्होंने न केवल लिखित सब प्रतियोंको देकर ही मदद की है बल्कि उन प्रतियोंका मिलान करके पाठान्तर लेने और तत्सम्बन्धी अन्यान्य कार्यमें भी शुरूसे अन्त तक पूरा समय और मनोयोग देकर मदद की है। मैं अपने मित्र पं० दलसुख मालवणियाके साथ ई० स० १९३५ के अप्रैल की ३० तारीखको पाटन इस कार्य निमित्त गया तभी श्रीमान् मुनि पुण्यविजयजीने अपना नियत और आवश्यक कार्य छोड़कर हम लोगोंको प्रस्तुत कार्यमें पूरा योग दिया। इतनी सरलतासे और त्वरासे उनकी मदद न मिलती तो अन्य सब सुविधाएँ होनेपर भी प्रस्तुत संस्करण आसानीसे इस तरह तैयार होने न पाता। अतएव सर्वप्रथम उक्त मुनिश्रीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा प्राथमिक कर्तव्य है। तत्पश्चात् मैं अपने विद्यागुरु पं० बालकृष्ण मिश्र जो हिन्दू युनिवर्सिटी गत ओरिएण्टल कोलेजके प्रीन्सिपल हैं और जो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, ख़ास न्याय और वेदान्तके मुख्य अध्यापक हैं उनके प्रति सबहुमान कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। यों तो मैं जो कुछ सोचता-बोलता-लिखता हूँ वह सब मेरे उक्त विद्यागुरुका ही अनुग्रह है पर प्रस्तुत तर्कभाषाके संस्करणमें उन्होंने मुझको ख़ास मदद की है। जब इस तर्कभाषाके ऊपर वृत्ति लिखनेका विचार हुवा और उसका तात्पर्य अंश मैंने लिखा तब मैं उस अंशको अपने उक्त विद्यागुरुजीको सुनाने पहुँचा। उन्होंने मेरे लिखित तात्पर्यवाले भागको ध्यानसे सुन लिया और यत्र तत्र परिमार्जन भी सुझाया जिसे मैंने सश्रद्ध स्वीकार कर लिया। इसके अलावा तात्पर्यांश लिखते समय भी उन्होंने जब जब जरूरत हुई तब तब मुझको अनेक बार अपने परामर्शसे प्रोत्साहित और निःशङ्क किया। उनकी सहज उदारतापूर्ण और सदासुलभ मददके सिवाय मैं इतने निःसंकोचत्व और आत्मविश्वासके साथ स्वतन्त्र भावसे तात्पर्य वर्णन करनेमें कभी समर्थ न होता। अतएव मैं उनका न केवल कृतज्ञ ही हूँ प्रत्युत सदा ऋणी भी हूँ। इस जगह मैं अपने सखा एवं विद्यार्थी जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक छपते समय प्रूफ देखने आदिमें हार्दिक सहयोग किया है उनका भी आभारी हूँ। उनमेंसे पहिले मुनि कृष्णचन्द्रजी हैं जो पञ्जाब पञ्चकूला जैनेन्द्र गुरुकुलके भूतपूर्व अधिष्ठाता हैं और सम्प्रति काशीमें जैन आगम और जैन तर्कके अभ्यासके अलावा आयुर्वेदका भी विशिष्ट अध्ययन करते हैं। उन्होंने अनेक बार अपने वैयाकरणत्व तथा तीक्ष्ण दृष्टिके द्वारा प्रूफ

करणेन लब्धेः फले व्यवधानात्, शक्तीनां परोक्षत्वाभ्युपगमेन करण-फलज्ञानयोः परोक्ष-प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमे प्राभाकरमतप्रवेशाच्च । अथ ज्ञानशक्तिरप्यात्मनि स्वाश्रये परिच्छिन्ने द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षेति न दोष इति चेत्; न; द्रव्यद्वारा प्रत्यक्षत्वेन सुखादिवत् स्वसंविदितत्वाव्यवस्थितेः, 'ज्ञानेन घटं जानामि' इति करणोल्लेखानुपपत्तेश्च ; न हि कलश-समाकलनवेलायां द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षाणामपि कुशूलकपालादीनामुल्लेखोऽस्तीति ।

[२. प्रत्यक्षं लक्षयित्वा सांव्यवहारिक-पारमार्थिकत्वाभ्यां तद्विभजनम् ।]

§३. तद् द्विभेदम्–प्रत्यक्षम्, परोक्षं च[1] । अक्षम्-इन्द्रियं प्रतिगतम्-कार्यत्वेनाश्रितं प्रत्यक्षम्, अथवाऽश्नुते ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौणादिकनिपातनात् अक्षो जीवः तं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् । न चैवमवध्यादौ मत्यादौ च प्रत्यक्षव्यपदेशो न स्यादिति वाच्यम्; यतो व्युत्पत्तिनिमित्तमेवैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु एकार्थसमवायिनाऽनेनोपलक्षितं स्पष्टतावत्त्वमिति । स्पष्टता[2] चानुमानादिभ्योऽतिरेकेण विशेषप्रकाशनमित्यदोषः । अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तत इति परोक्षम्, अस्पष्टं ज्ञानमित्यर्थः ।

§४. प्रत्यक्षं[3] द्विविधम्–सांव्यवहारिकम्, पारमार्थिकं चेति । समीचीनो बाधारहितो व्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलोकाभिलापलक्षणः संव्यवहारः, तत्प्रयोजनकं सांव्यवहारिकम्-अपारमार्थिकमित्यर्थः, यथा अस्मदादिप्रत्यक्षम् । तद्धीन्द्रियानिन्द्रियव्यवहितात्मव्यापारसम्पाद्यत्वात्परमार्थतः परोक्षमेव, धूमात् अग्निज्ञानवद् व्यवधानाविशेषात् । किञ्च, असिद्धानैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत् संशयविपर्ययानध्यवसायसम्भवात्, सदनुमानवत् सङ्केतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसम्भवाच्च परमार्थतः परोक्षमेवैतत् ।

[३. सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य निरूपणम्, मतिश्रुतयोर्विवेकश्च ।]

§५. एतच्च[4] द्विविधम्–इन्द्रियजम्, अनिन्द्रियजं च । तत्रेन्द्रियजं चक्षुरादिजनितम्, अनिन्द्रियजं च मनोजन्म । यद्यपीन्द्रियजज्ञानेऽपि मनो व्यापिपर्ति; तथापि तत्रेन्द्रियस्यैवासाधारणकारणत्वाददोषः । द्वयमपीदं मतिश्रुतभेदाद् द्विधा । तत्रेन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुताननुसारि ज्ञानं मतिज्ञानम्, श्रुतानुसारि च श्रुतज्ञानम् । श्रुतानुसारित्वं च–सङ्केतविषयपरोपदेशं श्रुतग्रन्थं वाऽनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्याद्यन्तर्जल्पा(जल्पा)कारग्राहित्वम् । नन्वेवमवग्रह एव मतिज्ञानं स्यान्नत्वीहादयः, तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वेन श्रुतत्वप्रसङ्गादिति चेत्; न; श्रुतनिश्रितानामप्यवग्रहादीनां सङ्केतकाले श्रुतानुसारित्वेऽपि व्यवहारकाले तदननुसारित्वात्, अभ्यासपाटववशेन श्रुतानुसरणमन्तरेणापि विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनात् । अङ्गोपाङ्गादौ शब्दाद्यवग्रहणे च श्रुताननुसारित्वान्मतित्वमेव, यस्तु तत्र श्रुतानुसारी प्रत्ययस्तत्र श्रुतत्वमेवेत्यवधेयम् ।

---

१ तुलना–प्र. न. २. १. । २ तुलना–प्र. न. २. ३. । ३ तुलना–प्र. न. २. ४. । ४ तुलना–प्र. न. २. ५. ।

आद्य पत्र, द्वितीय पार्श्व।

[४. मतिज्ञानस्य अवग्रहादिभेदेन चातुर्विध्यप्रकटनम् ।]

§ ६. मतिज्ञानम्—अवग्रहेहापायधारणाभेदाच्चतुर्विधम् । अवकृष्टो ग्रहः—अवग्रहः[1] । स द्विविधः—व्यञ्जनावग्रहः, अर्थावग्रहश्च । व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम्—कदम्बपुष्पगोलकादिरूपाणामन्तर्निर्वृत्तीन्द्रियाणां शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतुशक्तिविशेषलक्षणमुपकरणेन्द्रियम्, शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरुम्बम्, तदुभयसम्बन्धश्च । 5
ततो व्यञ्जनेन व्यञ्जनस्यावग्रहो व्यञ्जनावग्रह इति मध्यमपदलोपी समासः । अथ अज्ञानम् अयं बधिरादीनां श्रोत्रशब्दादिसम्बन्धवत् तत्काले ज्ञानानुपलम्भादिति चेत्; न; ज्ञानोपादानत्वेन तत्र ज्ञानत्वोपचारात्, अन्तेऽर्थावग्रहरूपज्ञानदर्शनेन तत्कालेऽपि चेष्टाविशेषाद्यनुमेयस्वप्नज्ञानादितुल्याव्यक्तज्ञानानुमानाद्वा एकतेजोऽवयववत् तस्य तनुत्वेनानुपलक्षणात् । 10

[५. व्यञ्जनावग्रहस्य चातुर्विध्यप्रदर्शने मनश्चक्षुषोरप्राप्यकारित्वसमर्थनम् ।]

§ ७. स[2] च नयन-मनोवर्जेन्द्रियभेदाच्चतुर्धा, नयन-मनसोरप्राप्यकारित्वेन व्यञ्जनावग्रहासिद्धेः, अन्यथा तयोर्ज्ञेयकृतानुग्रहोपघातपात्रत्वे जलानलदर्शन-चिन्तनयोः क्लेद-दाहापत्तेः । रवि-चन्द्राद्यवलोकने चक्षुषोऽनुग्रहोपघातौ दृष्टावेवेति चेत्; न; प्रथमावलोकनसमये तददर्शनात्, अनवरतावलोकने च प्राप्तेन रविकिरणादिनोपघातस्या- 15
(स्य), नैसर्गिकसौम्यादिगुणे चन्द्रादौ चावलोकिते उपघाताभावादनुग्रहाभिमानस्योपपत्तेः । मृतनष्टादिवस्तुचिन्तने, इष्टसङ्गमविभवलाभादिचिन्तने च जायमानौ दौर्बल्योरःक्षतादि-वदनविकासरोमाञ्चोद्गमादिलिङ्गकावुपघातानुग्रहौ, न मनसः, किन्तु मनस्त्वपरिणतानिष्टेष्टपुद्गलनिचयरूपद्रव्यमनोऽवष्टम्भेन हृन्निरुद्धवायुभेषजाभ्यामिव जीवस्यैवेति न ताभ्यां मनसः प्राप्यकारित्वसिद्धिः । ननु यदि मनो विषयं प्राप्य न परिच्छिनत्ति तदा 20
कथं प्रसुप्तस्य 'मेर्वादौ गतं मे मनः' इति प्रत्यय इति चेत्; न; मेर्वादौ शरीरस्येव मनसो गमनस्वप्नस्यासत्यत्वात्, अन्यथा विबुद्धस्य कुसुमपरिमलाद्यध्वजनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपघातप्रसङ्गात् । ननु स्वप्नानुभूतजिनस्नात्रदर्शन-समीहितार्थालाभयोरनुग्रहोपघातौ विबुध(द्ध)स्य सतो दृश्येते एवेति चेत्; दृश्येतां[3] स्वप्नविज्ञानकृतौ तौ, स्वप्नविज्ञानकृतं क्रियाफलं तु तृप्त्यादिकं नास्ति, यतो विषयप्राप्तिरूपा प्राप्यकारिता मनसो युज्येतेति ब्रूमः । 25
क्रियाफलमपि स्वप्ने व्यञ्जनविसर्गलक्षणं दृश्यत एवेति चेत्; तत् तीव्राध्यवसायकृतम्, न तु कामिनीनिधुवनक्रियाकृतमिति को दोषः ? ननु स्त्यानर्धिनिद्रोदये गीतादिकं शृण्वतो व्यञ्जनावग्रहो मनसोऽपि भवतीति चेत्; न; तदा स्वप्नाभिमानिनोऽपि श्रवणाद्यवग्रहेणैवोपपत्तेः । ननु [4]"च्यवमानो न जानाति' इत्यादिवचनात् सर्वस्यापि छद्मस्थोपयोगस्यासङ्ख्येयसमयमानत्वात्, प्रतिसमयं च मनोद्रव्याणां ग्रहणात् विषयमस- 30
म्प्राप्तस्यापि मनसो देहादनिर्गतस्य[5] तस्य[6] च स्वसन्निहितहृदयादिचिन्तनवेलायां कथं

१ अवग्रहः । २ व्यंजनावग्रहः । ३ आज्ञार्थकं तृतीयपुरुषद्विवचनम्—सम्पा० । ४ "छउमत्थाणमिति जाणइ चुएमिति जाणइ चयमाणे न याणइ सुहुमे णं से काले पन्नत्ते ।"—आचा० २.१७६ । ५ देहान्निर्ग०—मु० । ६ तस्य स्व०—प्र० प० ।

व्यञ्जनावग्रहो न भवतीति चेत्; शृणु; ग्रहणं हि मनः, न तु ग्राह्यम् । ग्राह्यवस्तुग्रहणे च व्यञ्जनावग्रहो भवतीति न मनोद्रव्यग्रहणे तदवकाशः; सन्निहितहृदयादिदेशग्रहवेलायामपि नैतदवकाशः, बाह्यार्थापेक्ष्यैव प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्वव्यवस्थानात्, क्षयोपशमपाटवेन मनसः प्रथममर्थानुपलब्धिकालासम्भवाद्वा; श्रोत्रादीन्द्रियव्यापार-
5 कालेऽपि मनोव्यापारस्य व्यञ्जनावग्रहोत्तरमेवाभ्युपगमात्, 'मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्थाः अनेनेति वा मनः' इति मनःशब्दस्यान्वर्थत्वात्, अर्थभाषणं विना भाषाया इव अर्थमननं विना मनसोऽप्रवृत्तेः । तदेवं नयनमनसोर्न व्यञ्जनावग्रह इति स्थितम् ।

[६. अर्थावग्रहस्य निरूपणम् ।]

§ ८. स्वरूपनामजातिक्रियागुणद्रव्यकल्पनारहितं सामान्यग्रहणम् अर्थावग्रहः ।
10 कथं तर्हि 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति सूत्रार्थः, तत्र शब्दाद्युल्लेखराहित्याभावादिति चेत्; न; 'शब्दः' इति वक्त्रैव भणनात्, रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्यनवधारणपरत्वाद्वा । यदि च 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायोऽवग्रहे भवेत् तदा शब्दोल्लेखस्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वादर्थावग्रहस्यैकसामा(म)यिकत्वं भज्येत । स्यान्मतम्–'शब्दोऽयम्' इति सामान्यविशेषग्रहणमप्यर्थावग्रह इष्यताम्, तदुत्तरम्–'प्रायो माधुर्यादयः शङ्खशब्दधर्मा इह, न तु शार्ङ्गधर्माः
15 खरकर्कशत्वादयः' इतीहोत्पत्तेः–इति; मैवम्; अशब्दव्यावृत्त्या विशेषप्रतिभासेनास्याऽपायत्वात् स्तोकग्रहणस्योत्तरोत्तरभेदापेक्षयाऽव्यवस्थितत्वात् । किञ्च, 'शब्दोऽयम्' इति ज्ञान(नं) शब्दगतान्वयधर्मेषु रूपादिव्यावृत्तिपर्यालोचनरूपामीहां विनाऽनुपपन्नम्, सा च नागृहीतेऽर्थे सम्भवतीति तद्ग्रहणं अस्मदभ्युपगतार्थावग्रहकालात् प्राक् प्रतिपत्तव्यम्, स च व्यञ्जनावग्रहकालोऽर्थपरिशून्य इति यत्किञ्चिदेतत् । नन्वनन्तरम्–'क
20 एष शब्दः' इति शब्दत्वावान्तरधर्मविषयकेहानिर्देशात् 'शब्दोऽयम्' इत्याकार एवावग्रहोऽभ्युपेय इति चेत्; न; 'शब्दः शब्दः' इति भाषकेणैव भणनात् अर्थावग्रहेऽव्यक्तशब्दश्रवणस्यैव सूत्रे निर्देशात्, अव्यक्तस्य च सामान्यरूपत्वादनाकारोपयोगरूपस्य चास्य तन्मात्रविषयत्वात् । यदि च व्यञ्जनावग्रह एवाव्यक्तशब्दग्रहणमिष्येत तदा सोऽप्यर्थावग्रहः स्यात्, अर्थस्य ग्रहणात् ।

25 § ९. केचित्तु–'सङ्केतादिविकल्पविकलस्य जातमात्रस्य बालस्य सामान्यग्रहणम्, परिचितविषयस्य त्वाद्यसमय एव विशेषज्ञानमित्येतदपेक्षया 'तेन शब्द इत्यवगृहीतः' इति नानुपपन्नम्'–इत्याहुः; तन्न; एवं हि व्यक्ततरस्य व्यक्तशब्दज्ञानमतिक्रम्यापि सुबहुविशेषग्रहप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः; 'न पुनर्जानाति क एष शब्दः' इति सूत्रावयवस्याविशेषेणोक्तत्वात्, प्रकृष्टमतेरपि शब्दं धर्मिणमगृहीत्वोत्तरोत्तरसुबहुधर्म-
30 ग्रहणानुपपत्तेश्च ।

§ १०. अन्ये तु–'आलोचनपूर्वकमर्थावग्रहमाचक्षते, तत्रालोचनमव्यक्तसामा-

१-०ग्रहणे व्य०-सं० ।

न्यग्राहि, अर्थावग्रहस्त्वितरव्यावृत्तवस्तुस्वरूपग्राहीति न सूत्रानुपपत्तिः'–इति; तदसत्; यत आलोचनं व्यञ्जनावग्रहात् पूर्वं स्यात्, पश्चाद्वा, स एव वा? नाद्यः; अर्थव्यञ्जनसम्बन्धं विना तदयोगात्। न द्वितीयः; व्यञ्जनावग्रहान्त्यसमयेऽर्थावग्रहस्यैवोत्पादादालोचनानवकाशात्। न तृतीयः; व्यञ्जनावग्रहस्यैव नामान्तरकरणात्, तस्य चार्थशून्यत्वेनार्थालोचनानुपपत्तेः। किञ्च, आलोचनेनेहां विना झटित्येवार्थावग्रहः कथं जन्यताम्? युगपच्चेहावग्रहौ पृथगसङ्ख्येयसमयमानौ कथं घटेताम्? इति विचारणीयम्। नन्ववग्रहेऽपि क्षिप्रेतरादिभेदप्रदर्शनादसङ्ख्यसमयमानत्वम्, विशेषविषयत्वं चाविरुद्धमिति चेत्; न; तत्त्वतस्तेषामपायभेदत्वात्, कारणे कार्योपचारमाश्रित्यावग्रहभेदत्वप्रतिपादनात्, अविशेषविषये विशेषविषयत्वस्यावास्तवत्वात्।

§ ११. अथवा अवग्रहो द्विविधः–नैश्चयिकः, व्यावहारिकश्च। आद्यः सामान्यमात्रग्राही, द्वितीयश्च विशेषविषयः तदुत्तरमुत्तरोत्तरधर्माकाङ्क्षारूपेहाप्रवृत्तेः, अन्यथा अवग्रहं विनेहानुत्थानप्रसङ्गात् अत्रैव क्षिप्रेतरादिभेदसङ्गतिः, अत एव चोपर्युपरि ज्ञानप्रवृत्तिरूपसन्तानव्यवहार इति द्रष्टव्यम्।

[७. ईहावायधारणानां क्रमशो निरूपणम्।]

§ १२. अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणम्[1]–ईहा, व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तो बोध इति यावत्, यथा–'श्रोत्रग्राह्यत्वादिना प्रायोऽनेन शब्देन भवितव्यम्' 'मधुरत्वादिधर्मयुक्तत्वात् शाङ्खादिना' वा इति। न चेयं संशय एव; तस्यैकत्र धर्मिणि विरुद्धनानार्थज्ञानरूपत्वात्, अस्याश्च निश्चयाभिमुखत्वेन विलक्षणत्वात्।

§ १३. ईहितस्य विशेषनिर्णयोऽवायः[2], यथा–'शब्द एवायम्', 'शाङ्ख एवायम्' इति वा।

§ १४. स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा[3]। सा च त्रिविधा–अविच्युतिः, स्मृतिः, वासना च। तत्रैकार्थोपयोगसातत्यानिवृत्तिः अविच्युतिः। तस्यैवार्थोपयोगस्य कालान्तरे 'तदेव' इत्युल्लेखेन समुन्मीलनं स्मृतिः। अपायाहितः स्मृतिहेतुः संस्कारो वासना। द्वयोरवग्रहयोरवग्रहत्वेन च तिसृणां धारणानां धारणात्वेनोपग्रहान्न विभागव्याघातः[4]।

§ १५. केचित्तु–अपनयनमपायः, धरणं च धारणेति व्युत्पत्त्यर्थमात्रानुसारिणः–'असद्भूतार्थविशेषव्यतिरेकावधारणमपायः, सद्भूतार्थविशेषावधारणं च धारणा'–इत्याहुः; तन्न; क्वचित्तदन्यव्यतिरेकपरामर्शात्, क्वचिदन्वयधर्मसमनुगमात्, क्वचिच्चोभाभ्यामपि भवतोऽपायस्य निश्चयैकरूपेण भेदाभावात्, अन्यथा स्मृतेराधिक्येन मतेः पञ्चभेदत्वप्रसङ्गात्। अथ नास्त्येव भवदभिमता धारणेति भेदचतुष्टया(य)व्याघातः; तथाहि–उपयोगोपरमे का नाम धारणा? उपयोगसातत्यलक्षणा अविच्युतिश्चापायान्नातिरिच्यते।

---

१ प्र. मी. १. १. २७। २ तुलना प्र. न. २. ९। ३ प्र. न. २. १०। ४–०रवग्रहत्वेन तिसृणां च धारणानाम्–इति पाठः सम्यग् भाति।

वैशिष्ट्यभा[ना]नुपपत्तेः विशेषणाद्यंशे आहार्यारोपरूपा विकल्पात्मिकैवानुमितिः स्वीकर्तव्या, देशकालसत्तालक्षणस्यास्तित्वस्य, सकलदेशकालसत्ताऽभावलक्षणस्य च नास्तित्वस्य साधनेन परपरिकल्पितविपरीतारोपव्यवच्छेदमात्रस्य फलत्वात् ।

§ ४६. वस्तुतस्तु खण्डशः प्रसिद्धपदार्थाऽस्तित्वनास्तित्वसाधनमेवोचितम् । अत एव "असतो नत्थि णिसेहो" [विशेषा० गा० १५७४] इत्यादि भाष्यग्रन्थे खरविषाणं 5 नास्तीत्यत्र 'खरे विषाणं नास्ति' इत्येवार्थ उपपादितः । एकान्तनित्यमर्थक्रियासमर्थं न भवति क्रमयौगपद्याभावादित्यत्रापि विशेषावमर्शदशायां क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावेनार्थक्रियानियामकत्वाभावो नित्यत्वादौ सुसाध इति सम्यग्विभालनीयं स्वपरसमयदत्तदृष्टिभिः ।

[१८. परार्थानुमानस्य प्रतिपादनम् ।] 10

§ ४७. परार्थं पक्षहेतुवचनात्मकमनुमानमुपचारात्, तेन श्रोतुरनुमानेनार्थबोधनात् । पक्षस्य विवादादेव गम्यमानत्वादप्रयोग इति सौगतः; तन्न; यत्किञ्चिद्वचनव्यवहितात् ततो व्युत्पन्नमतेः पक्षप्रतीतावप्यन्यान् प्रत्यवश्यनिर्देश्यत्वात् प्रकृतानुमानवाक्यावयवान्तरैकवाक्यतापन्नात्ततोऽवगम्यमानस्य पक्षस्याप्रयोगस्य चेष्टत्वात् । अवश्यं चाभ्युपगन्तव्यं हेतोः प्रतिनियतधर्मिधर्मताप्रतिपत्त्यर्थमुपसंहारवचनवत् साध्यस्यापि तदर्थं पक्ष- 15 वचनं ताथागतेनापि, अन्यथा समर्थनोपन्यासादेव गम्यमानस्य हेतोरप्यनुपन्यासप्रसङ्गात्, मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थस्य चोभयत्राविशेषादिति । किञ्च, प्रतिज्ञायाः प्रयोगानर्हत्वे शास्त्रादावप्यसौ न प्रयुज्येत, दृश्यते च प्रयुज्यमानेयं शाक्यशास्त्रेऽपि । परानुग्रहार्थं शास्त्रे तत्प्रयोगश्च वादेऽपि तुल्यः, विजिगीषूणामपि मन्दमतीनामर्थप्रतिपत्तेस्तत एवोपपत्तेरिति । 20

§ ४८. आगमात्परेणैव ज्ञातस्य वचनं परार्थानुमानम्, यथा बुद्धिरचेतना उत्पत्तिमत्त्वात् घटवदिति साङ्ख्यानुमानम् । अत्र हि बुद्धावुत्पत्तिमत्त्वं साङ्ख्याने(ख्येन) नैवाभ्युपगम्यते इति; तदेतदपेशलम्; वादिप्रतिवादिनोरागमप्रामाण्यविप्रतिपत्तेः, अन्यथा तत एव साध्यसिद्धिप्रसङ्गात् । परीक्षापूर्वमागमाभ्युपगमेऽपि परीक्षाकाले तद्बाधात् । नन्वेवं भवद्भिरपि कथमापाद्यते परं प्रति 'यत् सर्वथैकं तत् नानेकत्र सम्बध्यते, तथा च सामान्यम्' इति ? । सत्यम्; एकधर्मोपगते(मे) धर्मान्तरसन्दर्शनमात्रं(त्र)तत्परत्वेनैतदापादनस्य वस्तुनिश्चायकत्वाभावात्, प्रसङ्गविपर्ययरूपस्य मौलहेतोरेव तन्निश्चायकत्वात्, अनेकवृत्तित्वव्यापकानेकत्वनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेः मौलहेतुपरिकरत्वेन प्रसङ्गोपन्यासस्यापि न्याय्य- 25

१ [illegible] । २ तुलना-प्र. न. ३. २३. । ३-[illegible] । [illegible] 'यत् सर्वथैकं' इत्यादि [illegible] 'तत्' इत्यादिस्थाने [illegible] । ४ [illegible] । ५ तुलना-प्र. न. ३. २४. ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८-[illegible] । [illegible] ।

या च घटाद्युपयोगोपरमे सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं वासनाऽभ्युपगम्यते, या च 'तदेव' इतिलक्षणा स्मृतिः सा मत्यंशरूपा धारणा न भवति मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात्, कालान्तरे जायमानोपयोगेऽप्यन्वयमुख्यां धारणायां स्मृत्यन्तर्भावादिति चेत्; न; अपायप्रवृत्त्यनन्तरं क्वचिदन्तर्मुहूर्तं यावदपायधाराप्रवृत्तिदर्शनात् अविच्युतेः, पूर्वापरदर्शनानुसन्धानस्य 'तदेवेदम्' इति स्मृत्याख्यस्य प्राच्यापायपरिणामस्य, तदाधायकसंस्कारलक्षणाया वासनायाश्च अपायाभ्यधिकत्वात् ।

§ १६. नन्वविच्युतिस्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणम्; संस्कारश्च किं स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वा, तज्ज्ञानजननशक्तिर्वा, तद्वस्तुविकल्पो वेति त्रयी गतिः ? तत्र–आद्यपक्षद्वयमयुक्तम्; ज्ञानरूपत्वाभावात् तद्भेदानां चेह विचार्यत्वात् । तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त एव; सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं वासनाया इष्टत्वात्, एतावन्तं च कालं वस्तुविकल्पायोगादिति न कापि धारणा घटत इति चेत्; न; स्पष्टस्पष्टतरस्पष्टतमभिन्नधर्मकवासनाजनकत्वेन अन्यान्यवस्तुग्राहित्वादविच्युतेः प्रागननुभूतवस्त्वेकत्वग्राहित्वाच्च स्मृतेः अगृहीतग्राहित्वात्, स्मृतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपायास्तद्विज्ञानजननशक्तिरूपायाश्च वासनायाः स्वयमज्ञानरूपत्वेऽपि कारणे कार्योपचारेण ज्ञानभेदाभिधानाविरोधादिति ।

§ १७. एते चावग्रहादयो नोत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यां न्यूनत्वेन चोत्पद्यन्ते, ज्ञेयस्येत्थमेव ज्ञानजननस्वाभाव्यात् । क्वचिदभ्यस्तेऽपायमात्रस्य दृढवासने विषये स्मृतिमात्रस्य चोपलक्षणेऽप्युत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव सौक्ष्म्यादवग्रहादिक्रमानुपलक्षणात् । तदेवम् अर्थावग्रहादयो मनइन्द्रियैः षोढा भिद्यमाना व्यञ्जनावग्रहचतुर्भेदैः सहाष्टाविंशतिर्मतिभेदा भवन्ति । अथवा बहु-बहुविध-क्षिप्रा-ऽनिश्रित-निश्चित-ध्रुवैः सप्रतिपक्षैर्द्वादशभिर्भेदैर्भिन्नानामेतेषां षट्त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि भवन्ति । बह्वादयश्च भेदा विषयापेक्षाः; तथाहि–कश्चित् नानाशब्दसमूहमाकर्णितं बहु[2] जानाति–'एतावन्तोऽत्र शङ्खशब्दा एतावन्तश्च पटहादिशब्दाः' इति पृथग्भिन्नजातीयं क्षयोपशमविशेषात् परिच्छिनत्तीत्यर्थः । अन्यस्त्वल्पक्षयोपशमत्वात् तत्समानदेशोऽप्यबहुम्[3] । अपरस्तु क्षयोपशमवैचित्र्यात् बहुविधम्, एकैकस्यापि शङ्खादिशब्दस्य स्निग्धत्वादिबहुधर्मान्वितत्वेनाप्याकलनात् । परस्त्वबहुविधम्, स्निग्धत्वादिस्वल्पधर्मान्वितत्वेनाकलनात् । अन्यस्तु क्षिप्रम्, शीघ्रमेव परिच्छेदात् । इतरस्त्वक्षिप्रम्, चिरविमर्शेनाकलनात् । परस्त्वनिश्रितम्, लिङ्गं विना स्वरूपत एव परिच्छेदात् । अपरस्तु निश्रितम्, लिङ्गनिश्रयाऽऽकलनात् । [कश्चित्तु निश्चितम्, विरुद्धधर्मानालिङ्गितत्वेनावगतेः । इतरस्त्वनिश्चितम्, विरुद्धधर्माश्लिष्टतयावगमात् ।] अन्यो ध्रुवम्, बह्वादिरूपेणावगतस्य सर्वदैव तथा बोधात् । अन्यस्त्वध्रुवम्, कदाचिद्बह्वादिरूपेण कदाचित्त्वबह्वादिरूपेणावगमादिति । उक्ता मतिभेदाः ।

---

१ तुलना–प्र. न. २. १४ । २ वहु जा०–प्र० व० । ३–बहु अ०–प्र० । ४ अयं पाठः कोष्ठके व पूर्वं मुद्रितः । स च अन्यत्र क्वापि प्रतावसन्नपि औचित्यवशात् तथैवात्र गृहीतः ।

त्वात् । बुद्धिरचेतनेत्यादौ च प्रसङ्गविपर्ययहेतोर्व्याप्तिसिद्धिनिबन्धनस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य विपक्षबाधकप्रमाणस्यानुपस्थापनात् प्रसङ्गस्याप्यन्याय्यत्वमिति वदन्ति ।

§ ४९. हेतुः साध्योपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विधा प्रयोक्तव्यः, यथा पर्वतो वह्निमान्, सत्येव वह्नौ धूमोपपत्तेः असत्यनुपपत्तेर्वा । [3]अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ।

§ ५०. पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव च परप्रतिपत्त्यङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम्, पक्षहेतुवचनादेव परप्रतिपत्तेः, प्रतिबन्धस्य तर्कत एव निर्णयात्, तत्स्मरणस्यापि पक्षहेतुदर्शनेनैव सिद्धेः, असमर्थितस्य दृष्टान्तादेः प्रतिपत्त्यनङ्गत्वात्तत्समर्थनेनैवान्यथासिद्धेश्च ! समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषान्निराकृत्य स्वसाध्येनाविनाभावसाधनम्, तत एव च परप्रतीत्युपपत्तौ किमपरप्रयासेनेति ? ।

§ ५१. मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते, तथाहि–यः खलु क्षयोपशमविशेषादेव निर्णीतपक्षो दृष्टान्तस्मार्यप्रतिबन्धग्राहकप्रमाणस्मरणनिपुणोऽपरावयवाभ्यूहनसमर्थश्च भवति, तं प्रति हेतुरेव प्रयोज्यः । यस्य तु नाद्यापि पक्षनिर्णयः, तं प्रति पक्षोऽपि । यस्तु प्रतिबन्धग्राहिणः प्रमाणस्य न स्मरति, तं प्रति दृष्टान्तोऽपि । यस्तु दार्ष्टान्तिके हेतुं योजयितुं न जानीते, तं प्रत्युपनयोऽपि । एवमपि साकाङ्क्षं प्रति च निगमनम् । पक्षादिस्वरूपविप्रतिपत्तिमन्तं प्रति च पक्षशुद्ध्यादिकमपीति सोऽयं दशावयवो हेतुः पर्यवस्यति ।

[१९. हेतुप्रकाराणामुपदर्शनम् ।]

§ ५२. स चायं द्विविधः–विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्च । तत्र विधिरूपो द्विविधः–विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्च । तत्राद्यः षोढा, तद्यथा–कश्चिद्व्याप्य एव, यथा शब्दोऽनित्यः प्रयत्ननान्तरीयकत्वादिति । यद्यपि व्याप्यो हेतुः सर्व एव, तथापि कार्याद्यनात्मव्याप्यस्यात्(त्र) ग्रहणाद्भेदः, वृक्षः शिंशपाया इत्यादेरप्यत्रैवान्तर्भावः । कश्चित्कार्यरूपः, यथा पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र धूमः, धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतः तदभावेऽनुपपद्यमानोऽग्निं गमयति । कश्चित्कारणरूपः, यथा वृष्टिर्भविष्यति, विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरित्यत्र मेघविशेषः, स हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति । ननु कार्याभावेऽपि सम्भवत् कारणं न कार्यानुमापकम्, अत एव न वह्निर्धूमं गमयतीति चेत्; सत्यम्; यस्मिन्सामर्थ्याप्रतिबन्धः कारणान्तरसाकल्यं च निश्चेतुं शक्यते, तस्यैव कारणस्य कार्यानुमापकत्वात् । कश्चित् पूर्वचरः[12], यथा उदेष्यति शकटं कृत्तिको-

---

१ तुलना–प्र. न. ३. २९–३१ । २ प्र. न. ३. ३२ । ३ तुलना–प्र० न० ३. २८, ३३-३६ । ४ तुलना–प्र. न. ३. ४२ । ५ दिगम्बरजैनपरम्परायां पञ्चधा शुद्धिर्न दृश्यते । ६ तुलना–प्र. न. ३. ५४–५५ । ७ तुलना-प्र० न० ३. ६८–६९, ७७ । ८–०व्याप्यः स्यात् प्र० सं० । ९ तुलना–प्र. न. ३. ७८ । १०–तुलना–प्र. न. ३. ७९. । ११ तुलना– प्र. न. ३. ७०. । १२ तुलना प्र. न. ३. ८० ।

[८. श्रुतज्ञानं चतुर्दशधा विभज्य तन्निरूपणम् ।]

§ १८. श्रुतभेदा उच्यन्ते–श्रुतम् अक्षर-सञ्ज्ञि-सम्यक्-सादि-सपर्यवसित-गमिका-ऽङ्गप्रविष्टभेदैः सप्रतिपक्षैश्चतुर्दशविधम् । तत्राक्षरं त्रिविधम्–सञ्ज्ञा-व्यञ्जन-लब्धिभेदात् । सञ्ज्ञाक्षरं बहुविधलिपिभेदम्, व्यञ्जनाक्षरं भाष्यमाणमकारादि–एते चोपचाराच्छ्रुते । लब्ध्यक्षरं तु इन्द्रियमनोनिमित्तः श्रुतोपयोगः, तदावरणक्षयोपशमो वा–एतच्च परोपदेशं विनापि नासम्भाव्यम्, अनाकलितोपदेशानामपि मुग्धानां गवादीनां च शब्दश्रवणे तदाभिमुख्यदर्शनात्, एकेन्द्रियाणामप्यव्यक्ताक्षरलाभाच्च । अनक्षरश्रुतमुच्छ्वासादि, तस्यापि भावश्रुतहेतुत्वात्, ततोऽपि 'सशोकोऽयम्' इत्यादिज्ञानाविर्भावात् । अथवा श्रुतोपयुक्तस्य सर्वात्मनैवोपयोगात् सर्वस्यैव व्यापारस्य श्रुतरूपत्वेऽपि अत्रैव शास्त्रज्ञ-लोकप्रसिद्धा रूढिः । समनस्कस्य श्रुतं सञ्ज्ञिश्रुतम् । तद्विपरीतमसञ्ज्ञिश्रुतम् । सम्यक्श्रुतम् अङ्गानङ्गप्रविष्टम्, लौकिकं तु मिथ्याश्रुतम् । स्वामित्वचिन्तायां तु भजना–सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुतमेव वितथभाषित्वादिना यथास्थानं तदर्थविनियोगात्, विपर्ययान्मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च सम्यक्श्रुतमपि मिथ्याश्रुतमेवेति । सादि द्रव्यत एकं पुरुषमाश्रित्य, क्षेत्रतश्च भरतैरावते । कालत उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ, भावतश्च तत्तज्ज्ञापकप्रयत्नादिकम् । अनादि द्रव्यतो नानापुरुषानाश्रित्य, क्षेत्रतो महाविदेहान्, कालतो नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणम्, भावतश्च सामान्यतः क्षयोपशममिति । एवं सपर्यवसितापर्यवसितभेदावपि भाव्यौ । गमिकं सदृशपाठं प्रायो दृष्टिवादगतम् । अगमिकमसदृशपाठं प्रायः कालिकश्रुतगतम् । अङ्गप्रविष्टं गणधरकृतम् । अनङ्गप्रविष्टं तु स्थविरकृतमिति । तदेवं सप्रभेदं सांव्यवहारिकं मतिश्रुतलक्षणं प्रत्यक्षं निरूपितम् ।

[९. पारमार्थिकं प्रत्यक्षं त्रिधा विभज्य प्रथममवधेर्निरूपणम् ।]

§ १९. स्वोत्पत्तावात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकम् । तत् त्रिविधम्–अवधि-मनःपर्यय-केवलभेदात् । सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयम् आत्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानम् । तच्च षोढा अनुगामि-वर्धमान-प्रतिपातीतरभेदात् । तत्रोत्पत्तिक्षेत्रादन्यत्राप्यनुवर्तमानमानुगामिकम्, भास्करप्रकाशवत्, यथा भास्करप्रकाशः प्राच्यामाविर्भूतः प्रतीचीमनुसरत्यपि तत्रावकाशमुद्योतयति, तथैतदप्येकत्रोत्पन्नमन्यत्र गच्छतोऽपि पुंसो विषयमवभासयतीति । उत्पत्तिक्षेत्र एव विषयावभासकमनानुगामिकम्, प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत्, यथा प्रश्नादेशः क्वचिदेव स्थाने संवादयितुं शक्नोति पृच्छ्यमानमर्थम्, तथेदमपि अधिकृत एव स्थाने विषयमुद्योतयितुमलमिति । उत्पत्तिक्षेत्रात्क्रमेण विषयव्याप्तिमवगाहमानं वर्धमानम्, अधरोत्तरारणिनिर्मथनोत्पन्नोपात्तशुष्कोपचीयमानाधीयमानेन्धनराश्यग्निवत्, यथा अग्निः प्रयत्नादुपजातः सन् पुनरिन्धनलाभाद्वृद्धिमुपागच्छति एवं परमशुभाध्यवसायलाभादिदमपि पूर्वोत्पन्नं वर्धत इति । उत्पत्तिक्षेत्रापेक्षया

---

१ तुलना–प्र. न. २. १८ । २ तुलना–प्र. न. २. २१ ।

दयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयानन्तरं मुहूर्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति । कश्चित् उत्तरचरः[1], यथोदगाद्भरणिः प्राक्, कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः, कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयतीति कालव्यवधानेनानयोः कार्यकारणाभ्यां भेदः । कश्चित् सहचरः[3], यथा मातुलिङ्गं रूपवद्भवितुमर्हति रसवत्तान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः, रसो हि नियमेन रूपसहचरितः, तदभावेऽनुपपद्यमानस्तद्गमयति, [4]परस्परस्वरूपपरित्यागोपलम्भ-पौर्वापर्याभावाभ्यां स्वभावकार्यकारणेभ्योऽस्य भेदः । एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्ति धूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधकविधिरूपास्त एवाविरुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते ।

§ ५३. द्वितीयस्तु निषेधसाधको विरुद्धोपलब्धिनामा । स च स्वभावविरुद्ध-तद्व्याप्याद्युपलब्धिभेदात् सप्तधा । यथा नास्त्येव सर्वथा एकान्तः, अनेकान्तस्योपलम्भात् । नास्त्यस्य तत्त्वनिश्चयः, तत्र सन्देहात् । नास्त्यस्य क्रोधोपशान्तिः, वदनविकारादेः । नास्त्यस्यासत्यं वचः, रागाद्यकलङ्कितज्ञानकलितत्वात् । नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते पुष्यतारा, रोहिण्युद्गमात् । नोदगान्मुहूर्तात्पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफा(फ)ल्गुन्युदयात् । नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, सम्यग्दर्शनादिति । अत्रानेकान्तः प्रतिषेध्यस्यैकान्तस्य स्वभावतो विरुद्धः । तत्त्वसन्देहश्च प्रतिषेध्यतत्त्वनिश्चयविरुद्ध-तदनिश्चयव्याप्यः । वदनविकारादिश्च क्रोधोपशमविरुद्धतदनुपशमकार्यम् । रागाद्यकलङ्कितज्ञानकलितत्वं चासत्यविरुद्धसत्यकारणम् । रोहिण्युद्गमश्च पुष्यतारोद्गमविरुद्ध-मृगशीर्षोदयपूर्वचरः । पूर्वफल्गुन्युदयश्च मृगशीर्षोदयविरुद्धमघोदयोत्तरचरः । सम्यग्दर्शनं च मिथ्याज्ञानविरुद्धसम्यग्ज्ञानसहचरमिति ।

§ ५४. प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुर्द्विविधः–विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । आद्यो विरुद्धानुपलब्धिनामा विधेयविरुद्धकार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरानुपलम्भभेदात्पञ्चधा । यथा अस्त्यत्र रोगातिशयः, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः । विद्यतेऽत्र कष्टम्, इष्टसंयोगाभावात् । वस्तुजातमनेकान्तात्मकम्, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् । अस्त्यत्र च्छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः । अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति ।

§ ५५. द्वितीयोऽविरुद्धानुपलब्धिनामा प्रतिषेध्याविरुद्धस्वभावव्यापककार्यकारण-पूर्वचरोत्तरचरसहचरानुपलब्धिभेदात् सप्तधा । यथा नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात् । नास्त्यत्र पनसः, पादपानुपलब्धेः । नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकम् बीजम्, अङ्कुरानवलोकनात् । न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावाः, तत्त्वार्थश्रद्धानाभावात् । नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिः, चित्रोदयादर्शनात् । नोद-

१ तुलना–प्र. न. ३. ८१ । २ तुलना–प्र. न. ३. ७९ । ३ तुलना–प्र. न. ३. ८२ । ४ तुलना–प्र. न. ३. ७६ । ५ तुलना–प्र. न. ३. ८३–९२ । ६ [illegible] । ७ तुलना–प्र. न. ३. ८४, ८५, ८७–९२ । ८ [illegible] । ९ तुलना–प्र. न. ३. [illegible] । १० तुलना–प्र. न. ३. [illegible] ।

क्रमेणाल्पीभवद्विषयं हीयमानम्, परिच्छिन्नेन्धनोपादानसन्तत्यग्निशिखावत्, यथा अपनीतेन्धनाग्निज्वाला परिहीयते तथा इदमपीति। उत्पत्त्यनन्तरं निर्मूलनश्वरं प्रतिपाति, जलतरङ्गवत्, यथा जलतरङ्ग उत्पन्नमात्र एव निर्मूलं विलीयते तथा इदमपि। आ केवलप्राप्तेः आ मरणाद्वा अवतिष्ठमानम् अप्रतिपाति, वेदवत्, यथा पुरुषवेदादिरापुरुषादिपर्यायं तिष्ठति तथा इदमपीति।

[१०. मनःपर्यवज्ञानस्य निरूपणम्।]

§२०. मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यवज्ञानम्। मनःपर्यायानिदं साक्षात्परिच्छेत्तुमलम्, बाह्यानर्थान् पुनस्तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽनुमानेनैव परिच्छिनत्तीति द्रष्टव्यम्। तद् द्विविधम्—ऋजुमति-विपुलमतिभेदात्। ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः। सामान्यशब्दोऽत्र विपुलमत्यपेक्षयाऽल्पविशेषपरः, अन्यथा सामान्यमात्रग्राहित्वे मनःपर्यायदर्शनप्रसङ्गात्। विपुला विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमतिः। तत्र ऋजुमत्या घटादिमात्रमनेन चिन्तितमिति ज्ञायते, विपुलमत्या तु पर्यायशतोपेतं तत् परिच्छिद्यत इति। एते च द्वे ज्ञाने विकलविषयत्वाद्विकलप्रत्यक्षे परिभाष्येते।

[११. केवलज्ञानस्य निरूपणम्।]

§२१. निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलज्ञानम्[१]। अत एवैतत्सकलप्रत्यक्षम्। तच्चावरणक्षयस्य हेतोरैक्याद्भेदरहितम्। आवरणं चात्र कर्मैव, स्वविषयेऽप्रवृत्तिमतोऽस्मदादिज्ञानस्य सावरणत्वात्, असर्वविषयत्वे व्याप्तिज्ञानाभावप्रसङ्गात्, सावरणत्वाभावेऽस्पष्टत्वानुपपत्तेश्च। आवरणस्य च कर्मणो विरोधिना सम्यग्दर्शनादिना विनाशात् सिद्ध्यति कैवल्यम्।

§२२. 'योगजधर्मानुगृहीतमनोजन्यमेवेदमस्तु' इति केचित्; तन्न; धर्मानुगृहीतेनापि मनसा पञ्चेन्द्रियार्थज्ञानवदस्य जनयितुमशक्यत्वात्।

§२३. 'कवलभोजिनः कैवल्यं न घटते' इति दिक्पटः; तन्न; आहारपर्याप्त्यसातवेदनीयोदयादिप्रसूतया कवलभुक्त्या कैवल्याविरोधात्, घातिकर्मणामेव तद्विरोधित्वात्। दग्धरज्जुस्थानीयात्ततो न तदुत्पत्तिरिति चेत्; नन्वेवं तादृशादायुषो भवोपग्रहोऽपि न स्यात्। किञ्च, औदारिकशरीरस्थितिः कथं कवलभुक्तिं विना भगवतः स्यात्? अनन्तवीर्यत्वेन तां विना तदुपपत्तौ छद्मस्थावस्थायामप्यपरिमितबलत्व[३]श्रवणाद् भुक्त्यभावः स्यादित्यन्यत्र विस्तरः। उक्तं प्रत्यक्षम्।

[१२. परोक्षं लक्षयित्वा पञ्चधा विभज्य च स्मृतेर्निरूपणम्।]

§२४. अथ परोक्षमुच्यते—अस्पष्टं[४] परोक्षम्। तच्च स्मरण-प्रत्यभिज्ञान-तर्का-ऽनुमानाऽऽगमभेदतः पञ्चप्रकारम्[५]। अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्, यथा तत् तीर्थकरबिम्बम्[६]।

---

१ तुलना–प्र. न. २. २२। २ तुलना–प्र. न. २. २३। ३-०लवत्वश्र०–मु०। –०लश्र०–प्र०। ४ प्र. न. ३. १। ५ तुलना–प्र. न. ३. २। ६ तुलना–प्र. न. ३. ३–४।

गमत्पूर्वभद्रपदा मुहूर्तात्पूर्वम्, उत्तरभद्रपदोद्गमानवगमात्। नास्त्यत्र सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति। सोऽयमनेकविधोऽन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरुक्तोऽतोऽन्यो हेत्वाभासः।

[२०. हेत्वाभासनिरूपणम्।]

§ ५६. स त्रेधा[1]–असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात्। तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः[2]। स्वरूपाप्रतीतिश्चाज्ञानात्सन्देहाद्विपर्ययाद्वा। स द्विविधः–उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च। आद्यो यथा शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वादिति। द्वितीयो यथा अचेतनास्तरवः, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात्, अचेतनाः सुखादयः उत्पत्तिमत्त्वादिति वा।

§ ५७. नन्वन्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति, तथाहि–परेणासिद्ध इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमाणाभावादुभयोरप्यसिद्धः। अथाचक्षीत तदा प्रमाणस्यापक्षपातित्वादुभयोरपि सिद्धः। अथ यावन्न परं प्रति प्रमाणेन प्रसाध्यते, तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत्; गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम्, न हि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि कालं मुख्यतया तदाभासः। किञ्च, अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभासस्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह इति युक्तम्। नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद्युक्तम्, निग्रहान्तत्वाद्वादस्येति। अत्रोच्यते–यदा वादी सम्यग्घेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि तत्समर्थनन्यायविस्मरणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकान् वा प्रतिबोधयितुं न शक्नोति, असिद्धतामपि नानुमन्यते, तदान्यतरासिद्धत्वेनैव निगृह्यते। तथा, स्वयमनभ्युपगतोऽपि परस्य सिद्ध इत्येतावतैव[3](इत्येतावतै)वोपन्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धो निग्रहाधिकरणम्, यथा साङ्ख्यस्य जैनं प्रति 'अचेतनाः सुखादय उत्पत्तिमत्त्वात् घटवत्' इति।

§ ५८. साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः[4]। यथा अपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन व्याप्तमिति।

§ ५९. यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः[5]। स द्वेधा - निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च। आद्यो यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। अत्र हि प्रमेयत्वस्य वृत्तिर्नित्ये व्योमादौ सपक्ष इव विपक्षेऽनित्ये घटादावपि निश्चिता। द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वादिति। अत्र हि वक्तृत्वं विपक्षे सर्वज्ञे संदिग्धवृत्तिकम्, सर्वज्ञः किं वक्ताऽऽहोस्विन्नेति सन्देहात्। एवं स श्यामो मित्रापुत्रत्वादित्याद्यप्युदाहार्यम्।

§ ६०. अकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः।

---

१ तुलना प्र. न. ६. ४७। २ तुलना–प्र. न. ६. ४८–५१। ३– इत्येतावामेवोप०–सं०।
४ तुलना– प्र. न. ६. ५२, ५३। ५ तुलना–प्र. न. ६. ५४–५७।

न चेदमप्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवत् अविसंवादकत्वात्। अतीततदंशे वर्तमानत्वविषयत्वादप्रमाणमिदमिति चेत्; न; सर्वत्र विशेषणे विशेष्यकालभानानियमात्। अनुभवप्रमात्वपारतन्त्र्यादत्राप्रमात्वमिति चेत्; न; अनुमितेरपि व्याप्तिज्ञानादिप्रमात्वपारतन्त्र्येणाप्रमात्वप्रसङ्गात्। अनुमितेरुत्पत्तौ परापेक्षा, विषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यमिति चेत्; न; स्मृतेरप्युत्पत्तावेवानुभवसव्यपेक्षत्वात्, स्वविषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यात्। 5
अनुभवविषयीकृतभावावभासिन्याः स्मृतेर्विषयपरिच्छेदेऽपि न स्वातन्त्र्यमिति चेत्; तर्हि व्याप्तिज्ञानादिविषयीकृतानर्थान् परिच्छिन्दत्या अनुमितेरपि प्रामाण्यं दूरत एव। नैयत्येनाऽभात एवार्थोऽनुमित्या विषयीक्रियत इति चेत्; तर्हि तत्तयाऽभात एवार्थः स्मृत्या विषयीक्रियत इति तुल्यमिति न किञ्चिदेतत्।

[१३. प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम्।] 10

§ २५. अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्[1]। यथा 'तज्जातीय एवायं गोपिण्डः' 'गोसदृशो गवयः' 'स एवायं जिनदत्तः' 'स एवानेनार्थः कथ्यते' 'गोविलक्षणो महिषः' 'इदं तस्माद् दूरम्' 'इदं तस्मात् समीपम्' 'इदं तस्मात् प्रांशु ह्रस्वं वा' इत्यादि[2]।

§ २६. तत्तेदन्तारूपस्पष्टास्पष्टाकारभेदान्नैकं प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमस्तीति शाक्यः; 15
तन्न; आकारभेदेऽपि चित्रज्ञानवदेकस्य तस्यानुभूयमानत्वात्, स्वसामग्रीप्रभवस्यास्य वस्तुतोऽस्पष्टैकरूपत्वाच्च, इदन्तोल्लेखस्य प्रत्यभिज्ञानिबन्धनत्वात्। विषयाभावान्नेदमस्तीति चेत्; न; पूर्वापरविवर्तवर्त्येकद्रव्यस्य विशिष्टस्यैतद्विषयत्वात्। अत एव 'अगृहीतासंसर्गकमनुभवस्मृतिरूपं ज्ञानद्वयमेवैतद्' इति निरस्तम्; इत्थं सति विशिष्टज्ञानमात्रोच्छेदापत्तेः। तथापि 'अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् प्रत्यक्षरूपमेवेदं 20
युक्तम्' इति केचित्; तन्न; साक्षादक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्यासिद्धेः, प्रत्यभिज्ञानस्य साक्षात्प्रत्यक्षस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनानुभूयमानत्वात्, अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शनकालेऽप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्।

§ २७. अथ पुनर्दर्शने पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधोत्पन्नस्मृतिसहायमिन्द्रियं प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयतीत्युच्यते; तदनुचितम्; प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात्। अन्यथा 25
पर्वते वह्निज्ञानस्यापि व्याप्तिस्मरणादिसापेक्षमनसैवोपपत्तौ अनुमानस्याप्युच्छेदप्रसङ्गात्। किञ्च, 'प्रत्यभिजानामि' इति विलक्षणप्रतीतेरप्यतिरिक्तमेवैतत्, एतेन 'विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वाद्विशेषणज्ञाने सति विशिष्टप्रत्यक्षरूपमेतदुपपद्यते' इति निरस्तम्; 'एतत्सदृशः सः' इत्यादौ तदभावात्, स्मृत्यनुभवसङ्कलनक्रमस्यानुभविकत्वाच्चेति दिक्। 30

---

१ प्र. न. ३. ५। २ तुलना–प्र. न. ३. ६। ३–०ष्पष्टान०–प्र०।
२

सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति द्विविधस्याप्यप्रयोजकाह्वयस्य तस्य प्रतीत-निराकृताख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात् । न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वापत्तेः । एतेन कालात्ययापदिष्टोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः । प्रकरणसमोऽपि नातिरिच्यते, तुल्यबलसाध्य-तद्विपर्ययसाधकहेतुद्वयरूपे सत्यस्मिन् प्रकृतसाध्यसाधनयोरन्यथानुपपत्त्यनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तर्भावादिति संक्षेपः । 5

[२१. आगमप्रमाणनिरूपणम् ।]

§ ६१. आप्त[1]वचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः । न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवदस्यानुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्षापणनिरूपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवास्यार्थबोधकत्वात् । यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्तः[2] । वर्णपदवाक्यात्मकं तद्वचनम्[3] । वर्णोऽकारादिः पौद्गलिकः । पदं सङ्केतवत् । अन्योऽन्यापेक्षाणां पदानां समुदायो वाक्यम् । 10

§ ६२. तदिदमागमप्रमाणं सर्वत्र विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानं सप्तभङ्गीमनुगच्छति, तथैव परिपूर्णार्थप्रापकत्वलक्षणतात्त्विकप्रामाण्यनिर्वाहात्, क्वचिदेकभङ्गदर्शनेऽपि व्युत्पन्नमतीनामितरभङ्गाक्षेपध्रौव्यात् । यत्र तु घटोऽस्तीत्यादिलोकवाक्ये सप्तभङ्गीसंस्पर्शशून्यता तत्रार्थप्रापकत्वमात्रेण लोकापेक्षया प्रामाण्येऽपि तत्त्वतो न प्रामाण्यमिति द्रष्टव्यम् । 15

[२२. सप्तभङ्गीस्वरूपचर्चा ।]

§ ६३. केयं सप्तभङ्गीति चेदुच्यते – एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी । इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते । तत्र स्यादस्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः । स्यात्–कथञ्चित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यर्थः । अस्ति हि घटादिकं द्रव्यतः पार्थिवादित्वेन, न जलादित्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकादित्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरादित्वेन, न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामादित्वेन, न रक्तादित्वेनेति । एवं स्यान्नास्त्येव सर्वमिति प्राधान्येन निषेधकल्पनया द्वितीयः । न चासत्त्वं काल्पनिकम्; सत्त्ववत् तस्य स्वातन्त्र्येणानुभवात्, अन्यथा विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावेन हेतोस्त्रैरूप्यव्याघातप्रसङ्गात् । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति प्राधान्येन क्रमिकविधिनिषेधकल्पनया तृतीयः । स्यादवक्तव्यमेवेति युगपत्प्राधान्येन विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः, एकेन पदेन युगपदुभयोर्वक्तु- 20 25

१ प्र. न. ४. १। २ तुलना–प्र. न. ४. ४। ३ तुलना–प्र. न. ४. ८, ९। ४ तुलना–प्र. न. ४. १०। ५ तुलना–प्र. न. ४. ११। ६ प्र. न. ४. १४। ७ तुलना–प्र. न. ४. १५–१६। ८ तुलना–प्र. न. ४. १५। ९ तुलना–प्र. न. ४. १६। १० तुलना–प्र. न. ४. १७। ११ तुलना–प्र. न. ४. १८।

§ २८. अत्राह भाट्टः–नन्वेकत्वज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमस्तु, सादृश्यज्ञानं तूपमानमेव, गवये दृष्टे गवि च स्मृते सति सादृश्यज्ञानस्योपमानत्वात्, तदुक्तम्–

"तस्माद्यत् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥ १ ॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥ २ ॥"

[श्लोकवा० उप० श्लो० ३७–३८]

इति; तन्न; दृष्टस्य सादृश्यविशिष्टपिण्डस्य स्मृतस्य च गोः सङ्कलनात्मकस्य 'गोसदृशो गवयः' इति ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानताऽनतिक्रमात्। अन्यथा 'गोविसदृशो महिषः' इत्यादेरपि सादृश्याविषयत्वेनोपमानातिरेके प्रमाणसङ्ख्याव्याघातप्रसङ्गात्।

§ २९. एतेन–'गोसदृशो गवयः' इत्यतिदेशवाक्यार्थज्ञानकरणकं सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनव्यापारकम् 'अयं गवयशब्दवाच्यः' इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमुपमानम्–इति नैयायिकमतमप्यपहस्तितं भवति। अनुभूतव्यक्तौ गवयपदवाच्यत्वसङ्कलनात्मकस्यास्य प्रत्यभिज्ञानत्वानतिक्रमात् प्रत्यभिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषेण तद्धर्मावच्छेदेनातिदेशवाक्यानूद्यधर्मदर्शनं तद्धर्मावच्छेदेनैव पदवाच्यत्वपरिच्छेदोपपत्तेः। अत एव "पयोम्बुभेदी हंसः स्यात्" इत्यादिवाक्यार्थज्ञानवतां पयोऽम्बुभेदित्वादिविशिष्टव्यक्तिदर्शने सति 'अयं हंसपदवाच्यः' इत्यादिप्रतीतिर्जायमानोपपद्यते। यदि च 'अयं गवयपदवाच्यः' इति प्रतीत्यर्थं प्रत्यभिज्ञातिरिक्तं प्रमाणमाश्रीयते तदा आमलकादिदर्शनाहितसंस्कारस्य बिल्वादिदर्शनात् 'अतस्तत् सूक्ष्मम्' इत्यादिप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरमन्वेषणीयं स्यात्। मानसत्वे चासामुपमानस्यापि मानसत्वप्रसङ्गात्। 'प्रत्यभिजानामि' इति प्रतीत्या प्रत्यभिज्ञानत्वमेवाभ्युपेयमिति दिक्।

[१४. तर्कस्य निरूपणम्।]

§ ३०. सकलदेशकालाद्यवच्छेदेन साध्यसाधनभावादिविषय ऊहस्तर्कः[1], यथा 'यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवति, वह्निं विना वा न भवति' 'घटशब्दमात्रं घटस्य वाचकम्' 'घटमात्रं घटशब्दवाच्यम्' इत्यादि। तथाहि–स्वरूपप्रयुक्ता[2]ऽव्यभिचारलक्षणायां व्याप्तौ भूयोदर्शनसहितान्वयव्यतिरेकसहकारेणापि प्रत्यक्षस्य तावदविषयत्वादेवाप्रवृत्तिः, सुतरां च सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण तद्ग्रह इति साध्यसाधनदर्शनस्मरणप्रत्यभिज्ञानोपजनितस्तर्क एव तत्प्रतीतिमाधातुमलम्।

§ ३१. अथ स्वव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यलक्षणाया व्याप्तेर्योग्यत्वाद् भूयोदर्शनव्यभिचारादर्शनसहकृतेनेन्द्रियेण व्याप्तिग्रहोऽस्तु, सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारोऽपि सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या[3] सम्भवादिति चेत्; न; 'तर्कयामि' इत्यनुभवसिद्धेन

---

१ तुलना–प्र. न. ३. ७–८। २–०युक्तव्यभि०–सं० मु०। ३–०सत्त्यसम्भ० – प्र० व०।

गमत्पूर्वभद्रपदा मुहूर्तात्पूर्वम्, उत्तरभद्रपदोद्गमानवगमात्। नास्त्यत्र सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेरिति। सोऽयमनेकविधोऽन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरुक्तोऽतोऽन्यो हेत्वाभासः।

[२०. हेत्वाभासनिरूपणम्।]

§५६. स त्रेधा[1]–असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात्। तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुर-
5 सिद्धः[2]। स्वरूपाप्रतीतिश्चाज्ञानात्सन्देहाद्विपर्ययाद्वा। स द्विविधः–उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च। आद्यो यथा शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वादिति। द्वितीयो यथा अचेतनास्तरवः, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात्, अचेतनाः सुखादयः उत्पत्तिमत्त्वादिति वा।

§५७. नन्वन्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति, तथाहि–परेणासिद्ध इत्युद्भाविते
10 यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमाणाभावादुभयोरप्यसिद्धः। अथाचक्षीत तदा प्रमाणस्यापक्षपातित्वादुभयोरपि सिद्धः। अथ यावन्न परं प्रति प्रमाणेन प्रसाध्यते, तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत्; गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम्, न हि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि कालं मुख्यतया तदाभासः। किञ्च, अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभासस्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह इति युक्तम्।
15 नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद्युक्तम्, निग्रहान्तत्वाद्वादस्येति। अत्रोच्यते–यदा वादी सम्यग्घेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि तत्समर्थनन्यायविस्मरणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकान् वा प्रतिबोधयितुं न शक्नोति, असिद्धतामपि नानुमन्यते, तदान्यतरासिद्धत्वेनैव निगृह्यते। तथा, स्वयमनभ्युपगतोऽपि परस्य सिद्ध इत्येतावतै[3](इत्येतावतै)वोपन्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धो निग्रहाधिकरणम्, यथा साङ्ख्यस्य जैनं प्रति 'अचेतनाः सुखादय उत्पत्ति-
20 मत्त्वात् घटवत्' इति।

§५८. साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः[4]। यथा अपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन व्याप्तमिति।

§५९. यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः[5]। स द्वेधा-निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च। आद्यो यथा नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्। अत्र हि
25 प्रमेयत्वस्य वृत्तिर्नित्ये व्योमादौ सपक्ष इव विपक्षेऽनित्ये घटादावपि निश्चिता। द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वादिति। अत्र हि वक्तृत्वं विपक्षे सर्वज्ञे संदिग्धवृत्तिकम्, सर्वज्ञः किं वक्ताऽऽहोस्विन्नेति सन्देहात्। एवं स श्यामो मित्रापुत्रत्वादित्याद्यप्युदाहार्यम्।

§६०. अकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः। ६

१ तुलना प्र. न. ६. ४७। २ तुलना–प्र. न. ६. ४८–५१। ३– इत्येतावामेवोप०–सं०।
४ तुलना– प्र. न. ६. ५२, ५३। ५ तुलना–प्र. न. ६. ५४–५७।

तर्केणैव सकलसाध्यसाधनव्यक्त्युपसंहारेण व्याप्तिग्रहोपपत्तौ सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति-
कल्पने प्रमाणाभावात्, ऊहं विना ज्ञातेन सामान्येनापि सकलव्यक्त्यनुपस्थितेश्च।
वाच्यवाचकभावोऽपि तर्केणैवावगम्यते, तस्यैव सकलशब्दार्थगोचरत्वात्। प्रयोजक-
वृद्धोक्तं श्रुत्वा प्रवर्तमानस्य प्रयोज्यवृद्धस्य चेष्टामवलोक्य तत्कारणज्ञानजनकतां शब्दे-
ऽवधारयन्तो(यतो)ऽन्त्यावयवश्रवण-पूर्वावयवस्मरणोपजनितवर्णपदवाक्यविषयसङ्कलना- 5
त्मकप्रत्यभिज्ञानवतं आवापोद्वापाभ्यां सकलव्यक्त्युपसंहारेण च वाच्यवाचकभाव-
प्रतीतिदर्शनादिति। अयं च तर्कः सम्बन्धप्रतीत्यन्तरनिरपेक्ष एव स्वयोग्यतासामर्थ्या-
त्सम्बन्धप्रतीतिं जनयतीति नानवस्था।

§ ३२. प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्परूपत्वान्नायं प्रमाणमिति बौद्धाः; तन्न; प्रत्यक्षपृष्ठ-
भाविनो विकल्पस्यापि प्रत्यक्षगृहीतमात्राध्यवसायित्वेन सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वा- 10
भावात्। तादृशस्य तस्य सामान्यविषयस्याप्यनुमानवत् प्रमाणत्वात्, अवस्तुनिर्भासेऽपि
परम्परया पदार्थप्रतिबन्धेन भवतां व्यवहारतः प्रामाण्यप्रसिद्धेः। यस्तु–अग्निधूमव्यतिरि-
क्तदेशे प्रथमं धूमस्यानुपलम्भ एकः, तदनन्तरमग्नेरुपलम्भस्ततो धूमस्येत्युपलम्भद्वयम्,
पश्चादग्नेरनुपलम्भोऽनन्तरं धूमस्याप्यनुपलम्भ इति द्वावनुपलम्भाविति प्रत्यक्षानुपलम्भ-
पञ्चकाद्व्याप्तिग्रहः–इत्येतेषां सिद्धान्तः, तदुक्तम्– 15

"धूमाधीर्वह्निविज्ञानं धूमज्ञानमधीस्तयोः।
प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरन्वयः॥"

इति; स तु मिथ्या; उपलम्भानुपलम्भस्वभावस्य द्विविधस्यापि प्रत्यक्षस्य सन्निहितमात्र-
विषयतयाऽविचारकतया च देशादिव्यवहितसमस्तपदार्थगोचरत्वायोगात्।

§ ३३. यत्तु 'व्याप्यस्याहार्यारोपेण व्यापकस्याहार्यप्रसञ्जनं तर्कः। स च विशेष- 20
दर्शनवद् विरोधिशङ्काकालीनप्रमाणमात्रसहकारी, विरोधिशङ्कानिवर्तकत्वेन तदनुकूल एव
वा। न चायं स्वतः प्रमाणम्' इति नैयायिकैरिष्यते; तन्न; व्याप्तिग्रहरूपस्य तर्कस्य
स्वपरव्यवसायित्वेन स्वतः प्रमाणत्वात्, पराभिमततर्कस्यापि क्वचिदेतद्विचाराङ्गतया,
विपर्ययपर्यवसायिन आहार्यशङ्काविघटकतया, स्वातन्त्र्येण शङ्कामात्रविघटकतया चोप-
योगात्। इत्थं चाज्ञाननिवर्तकत्वेन तर्कस्य प्रामाण्यं धर्मभूषणोक्तं सत्येव तन्न(तत्र) 25
मिथ्याज्ञानरूपे व्यवच्छेद्ये सङ्गच्छते, ज्ञानाभावनिवृत्तिस्त्वर्थज्ञाततान्यवहारनिबन्धन-
स्वव्यवसितिपर्यवसितैव सामान्यतः फलमिति द्रष्टव्यम्।

१–०ज्ञानवद् आवा०–मु०। २–०तया चोपयो०–प्र० मु०। ३ धर्मभूषणेन हि श्लोकवार्ति-
कोक्तमेवाभिप्रेत्य स्वमतं समर्थितम्, तथाहि–"तदुक्तं श्लोकवार्तिकभाष्ये–'साधकबाधकप्रमाणाभावनिवृ-
त्तिरूपे हि फले साधकतमस्तर्कः' इति।" [न्यायदी० पृ० १९]। द्रष्टव्यं चैतद् तत्त्वार्थश्लोकवा० १. १३.
११५–८ श्लो०। धर्मभूषणोक्तं तत्र सत्येव मिथ्याज्ञाने व्यवच्छेद्ये सङ्गच्छते ज्ञानरूपे। ज्ञानाभाव०–मु०।
४–०ज्ञातता०–मु०।

सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति द्विविधस्याप्यप्रयोजकाह्वयस्य तस्य प्रतीत-निराकृता-ख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात् । न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वापत्तेः । एतेन कालात्ययापदिष्टोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः । प्रकरणसमोऽपि नातिरिच्यते, तुल्यबलसाध्य-तद्विपर्ययसाधकहेतुद्वयरूपे सत्यस्मिन् प्रकृतसाध्यसाधनयोरन्यथानुपपत्त्यनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तर्भावादिति संक्षेपः । 5

[२१. आगमप्रमाणनिरूपणम् ।]

§ ६१. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः[1] । न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रति-पादकत्वाद् धूमवदस्यानुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्षापणनिरूपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यास-दशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवास्यार्थबोधकत्वात् । यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेश-प्रवण आप्तः[2] । वर्णपदवाक्यात्मकं तद्वचनम्[3] । वर्णोऽकारादिः पौद्गलिकः । पदं सङ्केत-वत् । अन्योऽन्यापेक्षाणां पदानां समुदायो वाक्यम् । 10

§ ६२. तदिदमागमप्रमाणं सर्वत्र विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानं सप्तभङ्गीमनु-गच्छति, तथैव परिपूर्णार्थप्रापकत्वलक्षणतात्त्विकप्रामाण्यनिर्वाहात्, क्वचिदेकभङ्गदर्शनेऽपि व्युत्पन्नमतीनामितरभङ्गाक्षेपध्रौव्यात् । यत्र तु घटोऽस्तीत्यादिलोकवाक्ये सप्तभङ्गी-संस्पर्शशून्यता तत्रार्थप्रापकत्वमात्रेण लोकापेक्षया प्रामाण्येऽपि तत्त्वतो न प्रामाण्यमिति द्रष्टव्यम् । 15

[२२. सप्तभङ्गीस्वरूपचर्चा ।]

§ ६३. केयं सप्तभङ्गीति चेदुच्यते–एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी[4] । इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविध-संशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते[5] । तत्र स्यादस्त्येव सर्व-मिति प्राधान्येन विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः[6] । स्यात्–कथञ्चित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावा-पेक्षयेत्यर्थः । अस्ति हि घटादिकं द्रव्यतः पार्थिवादित्वेन, न जलादित्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकादित्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरादित्वेन, न वासन्तिका-दित्वेन । भावतः श्यामादित्वेन, न रक्तादित्वेनेति । एवं स्यान्नास्त्येव सर्वमिति प्राधा-न्येन निषेधकल्पनया द्वितीयः[7] । न चासत्त्वं काल्पनिकम्; सत्त्ववत् तस्य स्वातन्त्र्येणानुभ-वात्, अन्यथा विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावेन हेतोस्त्रैरूप्यव्याघातप्रसङ्गात् । स्या-दस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति प्राधान्येन क्रमिकविधिनिषेधकल्पनया तृतीयः[8] । स्यादवक्तव्य-मेवेति युगपत्प्राधान्येन विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः[9], एकेन पदेन युगपदुभयोर्वक्तुम- 20 25

१ प्र. न. ४. १ । २ तुलना–प्र. न. ४. ४ । ३ तुलना–प्र. न. ४. ८, ९ । ४ तुलना–प्र. न. ४. १४ । ५ तुलना–प्र. न. ४. ४१ । ६ प्र. न. ४. १५ । ७ तुलना–प्र. न. ४. १६–१७ । ८ तुलना–प्र. न. ४. १८ । ९ तुलना–प्र. न. ४. १९ । १० तुलना–प्र. न. ४. २० । ११ तुलना–प्र. न. ४. २१ ।

[१५. अनुमानं द्वेधा विभज्य स्वार्थानुमानस्य लक्षणम् ।]

§ ३४. साधनात्साध्यविज्ञानम्–अनुमानम्[1] । तद् द्विविधं स्वार्थं परार्थं च[2] । तत्र हेतु-ग्रहण-सम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्[3], यथा गृहीतधूमस्य स्मृतव्याप्तिकस्य 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानम् । अत्र हेतुग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारणत्वमवसेयम्, अन्यथा विस्मृताप्रतिपन्नसम्बन्धस्यागृहीतलिङ्गकस्य च कस्यचिदनुमानोत्पादप्रसङ्गात् ।

[१६. हेतुस्वरूपचर्चा ।]

§ ३५. निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः, न तु त्रिलक्षणकादिः । तथाहि–त्रिलक्षण एव हेतुरिति बौद्धाः । पक्षधर्मत्वाभावेऽसिद्धत्वव्यवच्छेदस्य, सपक्ष एव सत्त्वाभावे च विरुद्धत्वव्युदासस्य, विपक्षेऽसत्त्वनियमाभावे च[4]नैकान्तिकत्वनिषेधस्यासम्भवेनानुमित्यप्रतिरोधानुपपत्तेरिति; तन्न; पक्षधर्मत्वाभावेऽपि उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयाद्, उपरि सविता भूमेरालोकवत्त्वाद्, अस्ति नभश्चन्द्रो जलचन्द्रादित्याद्यनुमानदर्शनात् । न चात्रापि 'कालाकाशादिकं भविष्यच्छकटोदयादिमत् कृत्तिकोदयादिमत्त्वात्' इत्येवं पक्षधर्मत्वोपपत्तिरिति वाच्यम्; अननुभूयमानधर्मिविषयत्वेनेत्थं पक्षधर्मत्वोपपादने जगद्धर्म्यपेक्षया काककार्ष्ण्येन प्रासादधावल्यस्यापि साधनोपपत्तेः ।

§ ३६. ननु यद्येवं पक्षधर्मताऽनुमितौ नाङ्गं तदा कथं तत्र पक्षभाननियम इति चेत्; क्वचिदन्यथाऽनुपपत्त्यवच्छेदकतया ग्रहणात् पक्षभानं यथा नभश्चन्द्रास्तित्वं विना जलचन्द्रोऽनुपपन्न इत्यत्र, क्वचिच्च हेतुग्रहणाधिकरणतया यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यत्र धूमस्य पर्वते ग्रहणाद्वह्नेरपि तत्र भानमिति । व्याप्तिग्रहवेलायां तु पर्वतस्य सर्वत्रानुवृत्त्यभावेन न ग्रह इति ।

§ ३७. यत्तु अन्तर्व्याप्त्या पक्षीयसाध्यसाधनसम्बन्धग्रहात् पक्षसाध्यसंसर्गभानम्, तदुक्तम्–"पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः" (प्र. न. ३.३८) इति; तन्न[6]; अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायनशक्तौ सत्यां बहिर्व्याप्तेरुद्भावनव्यर्थत्वप्रतिपादनेन तस्याः स्वरूपप्रयुक्त(क्ता)व्यभिचारलक्षणत्वस्य, बहिर्व्याप्तेश्च सहचारमात्रत्वस्य लाभात्, सार्वत्रिक्या व्याप्तेर्विषयभेदमात्रेण भेदस्य दुर्वचत्वात् । न चेदेवं तदान्तर्व्याप्तिग्रहकाल एष एवं(काल एव) पक्षसाध्यसंसर्गभानादनुमानवैक(फ)ल्यापत्तिः विना पर्वतोवह्निमानित्युद्देश्यप्रतीतिमिति यथातन्त्रं भाव-

---

१ प्र. मी. १. २. ७. । २ तुलना प्र. न. ३. ९. । ३ प्र. न. ३. १०. । ४ प्र. न. ३. ११–१२ । ५–०भावे वानै०-सं० । ६ तत्रान्तर्व्या०–सं० प्र० मु० । ७ तुलना–प्र. न. ३. ३७ । ८–०काल एव च पक्ष०–मु० । ९ "विना पर्वतो वह्निमाननित्युद्देश्यप्रतीतिम्" इत्यग्रेतनः पाठः सङ्गतार्थकतया अत्रैव सूपपादः । तथा च–तदान्तर्व्याप्तिग्रहकाल एव पर्वतो वह्निमानित्युद्देश्यप्रतीतिं विना पक्षसाध्यसंसर्गभानादनुमानवैफल्यापत्तिरित्यादिरर्थः सम्पद्यते ।

शक्यत्वात् । शतृशान[1]शौ सदित्यादौ साङ्केतिकपदेनापि क्रमेणार्थद्वयबोधनात् । अन्यतरत्वादिना कथञ्चिदुभयबोधनेऽपि प्रातिस्विकरूपेणैकपदादुभयबोधस्य ब्रह्मणापि दुरुपपादत्वात् । स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः[2] । स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः[3] । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम[4] इति ।

§ ६४. सेयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्ग(ङ्गं) सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च[5] । तत्र [6]प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः । नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद्भेदोपचाराद्वा क्रमेणाभिधायकं वाक्यं विकलादेशः[7] । ननु कः क्रमः, किं वा यौगपद्यम्[8] ? । उच्यते–यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्यौगपद्यम् ।

§ ६५. के पुनः कालादयः ? । उच्यते–काल आत्मरूपमर्थः सम्बन्ध उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्द इत्यष्टौ । तत्र स्याज्जीवादि वस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं त्वत्(तत्)कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः । यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः । य एव चाधारे(रो)ऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः । य एव चाविष्वग्भावः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः । य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एवान्यैरपीत्युपकारेणाभेदवृत्तिः । य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः । य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्येषामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः । गुणीभूतभेदादभेदप्रधानात् सम्बन्धाद्विपर्ययेण संसर्गस्य भेदः । य एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एवाशेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः, पर्यायार्थिकनयगुणभावेन द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते । द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति, समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य भेदप्रसङ्गात् । नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, अन्यथा तेषां भेदविरोधात्, स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वविरोधात् । सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात्, नानासम्बन्धि-

---

१–०नयौ–रत्नाकरा० ४. १८ । २ प्र. न. ४. १९ । ३ प्र. न. ४. २० । ४ तुलना प्र. न. ४. २१ । ५ तुलना प्र. न. ४. ४३ । ६ प्र. न. ४. ४४ । ७ तुलना–प्र. न. ४. ४५ । ८ द्रष्टव्या–रत्नाकरा० ४. ४४ ।

नीयं सुधीभिः। इत्थं च 'पक्वान्येतानि सहकारफलानि एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तसहकारफलवदित्यादौ बाधितविषये, मूर्खोऽयं देवदत्तः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवदित्यादौ सत्प्रतिपक्षे चातिप्रसङ्गवारणाय अबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वसहितं प्रागुक्तरूपत्रयमादाय पाञ्चरूप्यं हेतुलक्षणम्' इति नैयायिकमतमप्यपास्तम्; उदेष्यति शकटमित्यादौ पक्षधर्मत्वस्यैवासिद्धेः, स श्यामः तत्पुत्रत्वादित्यत्र हेत्वाभासेऽपि पाञ्चरूप्यसत्त्वाच्च, निश्चितान्यथानुपपत्तेरेव सर्वत्र हेतुलक्षणत्वौचित्यात्।

[१७. साध्यस्वरूपचर्चा।]

§ ३८. ननु हेतुना साध्यमनुमातव्यम्। तत्र किं लक्षणं साध्यमिति चेत्; उच्यते–[1]अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं च साध्यम्। शङ्कितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीतमिति विशेषणम्। प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यनिराकृतग्रहणम्। अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितग्रहणम्।

§ ३९. कथायां शङ्कितस्यैव साध्यस्य साधनं युक्तमिति कश्चित्; तन्न; विपर्यस्ताव्युत्पन्नयोरपि परपक्षदिदृक्षादिना कथायामुपसर्पणसम्भवेन संशयनिरासार्थमिव विपर्ययानध्यवसायनिरासार्थमपि प्रयोगसम्भवात्, पित्रादेर्विपर्यस्ताव्युत्पन्नपुत्रादिशिक्षाप्रदानदर्शनाच्च। न चेदेवं जिगीषुकथायामनुमानप्रयोग एव न स्यात् तस्य साभिमानत्वेन विपर्यस्तत्वात्।

§ ४०. अनिराकृतमिति विशेषणं वादिप्रतिवाद्युभयापेक्षया, द्वयोः प्रमाणेनाबाधितस्य कथायां साध्यत्वात्। अभीप्सितमिति तु वाद्यपेक्षयैव, वक्तुरेव स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनायेच्छासम्भवात्। ततश्च परार्थाश्चक्षुरादय इत्यादौ पारार्थ्यमात्राभिधानेऽप्यात्मार्थत्वमेव सायं(०मेव साध्यं) सिध्यति। अन्यथा संहतपरार्थत्वेन बौद्धैश्चक्षुरादीनामभ्युपगमा[त् साधनवैफल्या]दित्यनन्वयादिदोषदुष्टमेतत्साङ्ख्यसाधनमिति वदन्ति। स्वार्थानुमानावसरेऽपि परार्थानुमानोपयोग्यभिधानम्, परार्थस्य स्वार्थपुरःसरत्वेनानतिभेदज्ञापनार्थम्।

§ ४१. व्याप्तिग्र[3]हणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः, आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी। इत्थं च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि धर्मी साध्यं साधनं च। तत्र साधनं गमकत्वेनाङ्गम्, साध्यं तु

१ तुलना-प्र. न. ३. १४-१७। २-०गमादित्यनन्वय०-प०। अत्रायं पाठोऽनुसन्धेयः-"ततश्च परार्थाश्चक्षुरादय इत्यादौ पारार्थ्यमात्राभिधानेऽप्यात्मार्थत्वमेव साध्यस्य प्रसिद्ध्यति। तदनिच्छता कथं [illegible] प्रति साध्यमेव। आत्मा हि [illegible] साधयितुमुपक्रान्तस्ततोऽसावेव साध्यः। अन्यथा [illegible], संहतपरार्थत्वेन बौद्धैश्चक्षुरादीनामभ्युपगमात्। एवं [illegible] [illegible] विशेषविरुद्धत्वं [illegible] न [illegible] [illegible]।"-स्या. र. पृ. ५३८। ३-०[illegible]-मु० द० मु०। प्र. न. ३. १८, २०। ४ तुलना-न्यायदी० पृ० २२।

भिरेकत्रैकसम्बन्धाघटनात् । तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात् । गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात्, तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गि भेदात्, तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात् । शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात्, सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेरिति कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते । एवं भेदवृत्तितदुपचारावपि वाच्याविति । पर्यवसितं परोक्षम् । ततश्च निरूपितः प्रमाणपदार्थः ।

इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना कृतायां जैनतर्कभाषायां प्रमाणपरिच्छेदः सम्पूर्णः ।

२. नयपरिच्छेदः ।

[१. नयानां स्वरूपनिरूपणम् ।]

§१. प्रमाणान्युक्तानि । अथ नया उच्यन्ते । प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नया[१]: । प्रमाणैकदेशत्वात् तेषां ततो भेदः । यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं न वाऽप्रमाणमिति[२] । ते च द्विधा - द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदात्[३] । तत्र प्राधान्येन द्रव्यमात्रग्राही द्रव्यार्थिकः । प्राधान्येन पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिधा नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात्[४] । पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात्[५] । ऋजुसूत्रो द्रव्यार्थिकस्यैव भेद इति तु जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः ।

§२. तत्र सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः[६], यथा पर्याययोर्द्रव्ययोः पर्यायद्रव्ययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया विवक्षणपरः । अत्र सच्चैतन्यमात्मनीति

१ तुलना–प्र. न. ७. १।

२ तुलना–"न प्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥
नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः ।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥" तत्त्वार्थश्लोकवा० १.६.२१,५।

३ तुलना–प्र. न. ७. ५। ४ तुलना–प्र. न. ७. ६। ५ तुलना–प्र. न. ७. ७।

६ तुलना–प्र. न. ७. ७।

[illegible]

[illegible]

गम्यत्वेन, धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन, आधारविशेषनिष्ठतया साध्याद्धे(साध्यसिद्धे)-रनुमानप्रयोजनत्वात् । अथवा पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमाने, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् इति धर्मधर्मिभेदाभेदविवक्षया पक्षद्वयं द्रष्टव्यम् ।

§ ४२. धर्मिणः प्रसिद्धिश्च क्वचित्प्रमाणात् क्वचिद्विकल्पात् क्वचित्प्रमाणविकल्पा-
5 भ्याम् । तत्र निश्चितप्रामाण्यकप्रत्यक्षाद्यन्यतमावधृतत्वं प्रमाणप्रसिद्धत्वम् । अनिश्चित-प्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वम् । तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्प-प्रसिद्धत्वम् । तत्र प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः, स खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते । विकल्पसिद्धो धर्मी यथा सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाण-त्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः, अथवा खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरवि-
10 षाणम् । अत्र हि सर्वज्ञखरविषाणे अस्तित्वनास्तित्वसिद्धिभ्यां प्राग् विकल्पसिद्धे । उभय-सिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः, स हि वर्तमान(नः) प्रत्यक्ष-गम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः, स सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाणविकल्पसिद्धो धर्मी । प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये कामचारः । विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि सत्तासत्त्वयोरेव साध्यत्वमिति नियमः । तदुक्तम्–"विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये"
15 [परी० ३. २३] इति ।

§ ४३. अत्र बौद्धः सत्तामात्रस्यानभीप्सितत्वाद्विशिष्टसत्तासाधने वानन्वयाद्विक-ल्पसिद्धे धर्मिणि न सत्ता साध्येत्याह ; तदसत् ; इत्थं सति प्रकृतानुमानस्यापि भङ्ग-प्रसङ्गात्, वह्निमात्रस्यानभीप्सितत्वाद्विशिष्टवह्नेश्चानन्वयादिति । अथ तत्र सत्तायां साध्यायां तद्धेतुः-भावधर्मः, भावाभावधर्मः, अभावधर्मो वा स्यात् ? । आद्येऽसिद्धिः,
20 असिद्धसत्ताके भावधर्मासिद्धेः । द्वितीये व्यभिचारः, अस्तित्वाभाववत्यपि वृत्तेः । तृतीये च विरोधाभा(विरोधोऽभा)वधर्मस्य भावे क्वचिदप्यसम्भवात् , तदुक्तम्–

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः ।
धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ? ॥"

[प्रमाणवा० १. १९२]

25 इति चेत्; न; इत्थं वह्निमद्धर्मत्वादिविकल्पैर्धूमेन वह्न्यनुमानस्याप्युच्छेदापत्तेः ।

§ ४४. विकल्पस्याप्रमाणत्वाद्विकल्पसिद्धो धर्मी नास्त्येवेति नैयायिकः । तस्येत्थंवच-नस्यैवानुपपत्तेस्तूष्णीम्भावापत्तिः, विकल्पसिद्धधर्मिणोऽप्रसिद्धौ तत्प्रतिषेधानुपपत्तेरिति ।

§ ४५. इदं त्ववधेयम्–विकल्पसिद्धस्य धर्मिणो नाखण्डस्यैव भानमसत्ख्यातिप्रस-ङ्गादिति, शब्दादेर्विशिष्टस्य तस्य [भा]नाभ्युपगमे विशेषणस्य संशयेऽभावनिश्चये वा

१ तुलना- प्र. न. ३. २१ । २ अनिश्चितप्रामाण्यप्रत्य०-प्र० । ३-०साधने चानन्वया०-मु० । ४ नाखण्डलस्यै०-सं० । नाखण्डस्यैवाभानं-व० । ५ तस्य भानाभ्यु०-मु० । ६ वा विशिष्टवैशिष्ट्य-भानानु०-मु० ।

पर्याययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्[1]। अत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सत्त्वाख्यस्य तु विशेषणत्वेनामुख्यत्वात्। प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनार्थक्रियाकारित्वोपलक्षितो व्यञ्जनपर्यायः। भूतभविष्यत्त्वसंस्पर्शरहितं वर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपं चार्थपर्यायः। वस्तु[2] पर्यायवद्द्रव्यमिति द्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्, पर्यायवद्द्रव्याख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन प्राधान्यात्, वस्त्वाख्यस्य विशेषणत्वेन गौणत्वात्। क्षण[3]मेकं सुखी विषयासक्तजीव इति पर्यायद्रव्ययोर्मुख्यामुख्यतया विवक्षणम्, अत्र विषयासक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो विशेष्यत्वेन मुख्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्य तद्विशेषणत्वेनामुख्यत्वात्। न[4] चैवं द्रव्यपर्यायोभयावगाहित्वेन नैगमस्य प्रामाण्यप्रसङ्गः, प्राधान्येन तदुभयावगाहिन एव ज्ञानस्य प्रमाणत्वात्।

§ ३. सामान्यमात्रग्राही परामर्शः सङ्ग्रहः[5]–स द्वेधा, परोऽपरश्च[6]। तत्राशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परः सङ्ग्रहः[7]। यथा विश्वमेकं सदविशेषादिति[8]। द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसङ्ग्रहः[9]। सङ्ग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः[10]। यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वा[11]। यद् द्रव्यं तज्जीवादि षड्विधम्। यः पर्यायः स द्विविधः-क्रमभावी सहभावी चेत्यादि।

§ ४. ऋजु[12] वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः। यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति। अत्र हि क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यत इति।

§ ५. कालादि[13]भेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः। कालकारकलिङ्गसङ्ख्यापुरुषोपसर्गाः कालादयः। तत्र[14] बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यत्रातीतादिकालभेदेन सुमेरोर्भेदप्रतिपत्तिः, करोति क्रियते कुम्भ इत्यादौ कारकभेदेन, तटस्तटी तटमित्यादौ लिङ्गभेदेन, दाराः कलत्रमित्यादौ संख्याभेदेन, यास्यसि त्वम्, यास्यति भवानित्यादौ पुरुषभेदेन, सन्तिष्ठते अवतिष्ठते इत्यादावुपसर्गभेदेन।

§ ६. पर्याय[15]शब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः। शब्दनयो हि पर्यायभेदेऽप्यर्थाभेदमभिप्रैति, समभिरूढस्तु पर्यायभेदे भिन्नानर्थानभिमन्यते।

---

१ तुलना–प्र. न. ७. ८। तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ३२, ३३। २ तुलना–प्र. न. ७. ९। तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ३९। ३ तुलना–प्र. न. ७. १०। तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ४३.। ४ तुलना–तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. २२, २३। ५ प्र. न. ७. १३। तुलना–लघीय० ६. १९। तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ५१, ५५। ६ तुलना–प्र. न. ७. १४। ७ प्र. न. ७. १५। ८ तुलना–प्र. न. ७. १६। ९ प्र. न. ७. १९। १० प्र. न. ७. २३। तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ५८। ११ तुलना–प्र. न. ७. २४। १२ तुलना–प्र. न. ७. २८, २९। तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ६१। १३ प्र. न. ७. ३२। तुलना–लघीय० ६. १४। तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ६८–७२। १४ तुलना प्र. न. ७. ३३। १५ प्र. न. ७. ३६। तुलना–तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ७६, ७७।

अभेदं त्वर्थगतं पर्यायशब्दानामुपेक्षत इति, यथा इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरन्दर इत्यादि ।

§७. शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः । यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः । समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति, क्रियोपलक्षितसामान्यस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्, तथारूढेः सद्भावात् । एवम्भूतः पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते । न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति । गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात्, गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादश्व इति । शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव, शुचीभवनाच्छुक्लो, नीलनान्नील इति । देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव, देव एनं देयात्, यज्ञ एनं देयादिति । संयोगिद्रव्यशब्दाः समवाय(यि)द्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्तिक्रियाप्रधानत्वात् । पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रात्, न तु निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते ।

§८. एतेष्वाद्याश्चत्वारः प्राधान्येनार्थगोचरत्वादर्थनयाः अन्त्यास्तु त्रयः प्राधान्येन शब्दगोचरत्वाच्छब्दनयाः । तथा विशेषग्राहिणोऽर्पितनयाः, सामान्यग्राहिणश्चानर्पितनयाः । तत्रानर्पितनयमते तुल्यमेव रूपं सर्वेषां सिद्धानां भगवताम् । अर्पितनयमते त्वेकद्वित्र्यादिसमयसिद्धाः स्वसमानसमयसिद्धैरेव तुल्या इति । तथा, लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारनयः, यथा पञ्चस्वपि वर्णेषु भ्रमरे सत्सु श्यामो भ्रमर इति व्यपदेशः । तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः, स पुनर्मन्यते पञ्चवर्णो भ्रमरः, बादरस्कन्धत्वेन तच्छरीरस्य पञ्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्नत्वात्, शुक्लादीनां च न्यग्भूतत्वेनानुपलक्षणात् । अथवा एकनयमतार्थग्राही व्यवहारः, सर्वनयमतार्थग्राही च निश्चयः । न चैवं निश्चयस्य प्रमाणत्वेन नयत्वव्याघातः, सर्वनयमतस्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमात् । तथा, ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः । क्रियामात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः । तत्रर्जुसूत्रादयश्चत्वारो नयाश्चारित्रलक्षणायाः क्रियाया एव प्राधान्यमभ्युपगच्छन्ति, तस्या एव मोक्षं प्रत्यव्यवहितकारणत्वात् । नैगमसंग्रहव्यवहारास्तु यद्यपि चारित्रश्रुतसम्यक्त्वानां त्रयाणामपि मोक्षकारणत्वमिच्छन्ति, तथापि व्यस्तानामेव, न तु समस्तानाम्, एतन्मते ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इत्यनियमात्, अन्यथा नयत्वहानिप्रसङ्गात्, समुदयवादस्य स्थितपक्षत्वादिति द्रष्टव्यम् ।

[illegible]

"नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा एस परमत्थो ॥" सन्मति० १. ६.

पृ० २७ पं० १४. "ननु नया नैगमादयः प्रसिद्धाः ततस्तैरेवाऽयं विचारो युज्यते। अथ तेऽत्रैव द्रव्यपर्यायास्तिकनयद्वयेऽन्तर्भवन्ति, तर्ह्युच्यतां कस्य कस्मिन्नन्तर्भावः ?, इत्याशङ्क्याह" [विशेषा० गा० ७५.] –'**नैगमस्य**' इति

पृ० २७. पं० २४. '**उज्जुसुअस्स**'–"उज्जुसुअस्स इत्यादि–ऋजु अतीतानागतपरकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु सूत्रयति–अभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः। अयं हि वर्त्तमानकालभाव्येव वस्त्वभ्युपगच्छति नातीतं विनष्टत्वात् नाप्यनागतमनुत्पन्नत्वात्। वर्त्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्–परकीयं तु नेच्छति स्वकार्याप्रसाधकत्वात् परधनवत्। तस्मादेको देवदत्तादिरनुपयुक्तोऽस्य मते आगमत एकं द्रव्यावश्यकमस्ति 'पुहुत्तं नेच्छइ त्ति' अतीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ। किं तर्हि ?, वर्त्तमानकालीनं स्वगतमेव चाभ्युपैति तच्चैकमेव इति भावः।" –अनु० टी० सूत्र० १४. पृ० १८.

पृ० २७. पं० २६. '**कथं चायं**'–"इदमुक्तं भवति–यो ह्यनाकारमपि भावहेतुत्वात् द्रव्यमिच्छति ऋजुसूत्रः स साकारामपि विशिष्टेन्द्रादिभावहेतुत्वात् स्थापनां किमिति नेच्छेत् ?, इच्छेदेव नात्र संशयः।" –विशेषा० बृ० गा० २८४९.

पृ० २७. पं० २८. '**किञ्च**'–"उपपत्त्यन्तरेणापि द्रव्यस्थापनेच्छामस्य साधयन्नाह–ननु ऋजुसूत्रस्तावत् नाम निर्विवादमिच्छति। तच्च नाम इन्द्रादिसञ्ज्ञामात्रं वा भवेत्, इन्द्रार्थरहितं वा गोपालदारकादि वस्तु भवेदिति द्वयी गतिः। इदं चोभयरूपमपि नाम भावकारणमिति कृत्वा इच्छन्नसौ ऋजुसूत्रो द्रव्यस्थापने कथं नाम नेच्छेत् ?। भावकारणत्वाविशेषादिति भावः। अथ इन्द्रादिकं नाम भावेऽपि भावेन्द्रेऽपि सन्निहितमस्ति तस्मादिच्छति तदृजुसूत्रः। तर्हि जितमस्माभिः अस्य न्यायस्य द्रव्यस्थापनापक्षे सुलभतरत्वात्। तथाहि–द्रव्यस्थापने अपि भावस्य इन्द्रपर्यायस्य आसन्नतरौ हेतू शब्दस्तु तन्नामलक्षणो बाह्यतर इति। एतदुक्तं भवति–इन्द्रमूर्त्तिलक्षणं द्रव्यम्, विशिष्टतदाकाररूपा तु स्थापना। एते द्वे अपि इन्द्रपर्यायस्य तादात्म्येनावस्थितत्वात् सन्निहिततरे शब्दस्तु नामलक्षणो वाच्यवाचकभावसम्बन्धमात्रेणैव स्थितत्वात् बाह्यतर इति। अतो भावे सन्निहितत्वात् नामेच्छन्नर्जुसूत्रो द्रव्यस्थापने सन्निहिततरत्वात् सुतरामिच्छेदिति।
–विशेषा ०बृ० गा० २८५०-१

पृ० २८. पं० ४. '**तन्नानवद्यम्**' "तत् परिहरन्नाह–इह संग्रहिकोऽसंग्रहिकः सर्वो वा नैगमस्तावद् निर्विवादं स्थापनामिच्छत्येव। तत्र संग्रहिकः संग्रहमतावलम्बी सामान्यवादीत्यर्थः, असंग्रहिकस्तु व्यवहारनयमतानुसारी विशेषवादीत्यर्थः, सर्वस्तु समुदितः। ततश्च यदि संग्रहमतावलम्बी नैगमः स्थापनामिच्छति, तर्हि संग्रहस्तत्समानमतोऽपि तां किं नेच्छति ?, इच्छेदेवेत्यर्थः। अथ यद्यपि सामान्येन सर्वो नैगमः स्थापनामिच्छति तथापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरसंग्रहिकोऽसौ तामिच्छतीति प्रतिपत्तव्यम्, न संग्रहिकः, न ततः संग्रहस्य स्थापनेच्छा निषिध्यते।

§९. कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाऽल्पविषयः ?, इति चेदुच्यते—सन्मात्रगोचरात्संग्रहात्तावन्नैगमो बहुविषयो भावाभावभूमिकत्वात् । सद्विशेषप्रकाशकाद्व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद्बहुविषयः । वर्तमानविषयावलम्बिन ऋजुसूत्रात्कालत्रितयवर्त्यर्थजातावलम्बी व्यवहारो बहुविषयः । कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदेशकाच्छब्दात्तद्विपरीतवेदक ऋजुसूत्रो बहुविषयः । न केवलं कालादिभेदेनैवर्जुसूत्रादल्पार्थता शब्दस्य, किन्तु भावघटस्यापि सद्भावासद्भावादिनाऽर्पितस्य स्याद् घटः स्यादघट इत्यादिभङ्गपरिकरितस्य तेनाभ्युपगमात् तस्यर्जुसूत्राद् विशेषिततरत्वोपदेशात् । यद्यपीदृशसम्पूर्णसप्तभङ्गपरिकरितं वस्तु स्याद्वादिन एव सङ्गिरन्ते, तथापि ऋजुसूत्रकृततदभ्युपगमापेक्षयाऽन्यतरभङ्गेन विशेषितप्रतिपत्तिरत्रादुष्टेत्यदोष इति वदन्ति । प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपया(द्विपर्यया)नुयायित्वाद्बहुविषयः । प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवम्भूतात्समभिरूढः तदन्यथार्थस्थापकत्वाद्बहुविषयः ।

§१०. नय[2]वाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुगच्छति, विकलादेशत्वात्, परमेतद्वाक्यस्य प्रमाणवाक्याद्विशेष इति द्रष्टव्यम् ।

[२. नयाभासानां निरूपणम् ।]

§११. अथ नयाभासाः । तत्र द्रव्यमात्रग्राही पर्यायप्रतिक्षेपी द्रव्यार्थिकाभासः । पर्यायमात्रग्राही द्रव्यप्रतिक्षेपी पर्यायार्थिकाभासः । धर्मि[3]धर्मादीनामे(मै)कान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः, यथा नैयायिकवैशेषिकदर्शनम् । सत्ता[4]ऽद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः यथाऽखिलान्यद्वैतवादिदर्शनानि सांख्यदर्शनं च । अपार[5]मार्थिकद्रव्यपर्यायविभागाभिप्रायो व्यवहाराभासः, यथा चार्वाकदर्शनम्, चार्वाको[6] हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायादिप्रविभागं कल्पनारोपितत्वेनापह्नुतेऽविचारितरमणीयं भूतचतुष्टयप्रविभागमात्रं तु स्थूललोकव्यवहारानुयायितया समर्थयत इति । वर्तमान[7]पर्यायाभ्युपगन्ता सर्वथा द्रव्यापलापी ऋजुसूत्राभासः, यथा ताथागतं[8] मतं । कालादि[9]भेदेनार्थभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दाभासः, यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्ताद्दृक्सिद्धान्यशब्दवदिति । पर्याय[10]ध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः समभिरूढाभासः, यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्गशब्दवदिति । क्रिया[11]-

---

१ तुलना—प्र. न. ७. ४६–५२ । सर्वार्थ० १. ३३ । तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ८२–८९ । २ तुलना—प्र. न ७. ५३. । ३ तुलना—प्र. न. ७. ११, १२ । लघीय० स्ववि० ५. ९. । तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ३१, ३४, ३६, ३८, ४०, ४२, ४४, ४७ । ४ तुलना—प्र. न. ७. १७, १८, २१, २२ । लघीय० ५. ८ । तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ५२–५४, ५७ । ५ तुलना—प्र. न. ७. २५, २६ । लघीय० ५. १२. । तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ६० । ६ स्या. र. पृ० १०५८ । ७ तुलना—प्र. न. ७. ३०, ३१ । तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ६२. । ८ तथागतमतं—सं० मु० । ९ तुलना—प्र. न. ७. ३४, ३५ । तत्त्वार्थश्लोकवा. १. ३३ ८०. । १० तुलना—प्र. न. ७. ३८, ३९ । ११ तुलना-प्र. न. ७. ४२, ।

तर्हि एकत्र संधित्सतोऽन्यत्र प्रच्यवते, एवं हि सति व्यवहारोऽपि स्थापनां किं नेच्छति ? । कुतः ? । असंग्रहिकनैगमसमानधर्मा व्यवहारनयोऽपि वर्तते, विशेषवादित्वात् । ततश्चैषोऽपि स्थापनामिच्छेदेवेति, निषिद्धा चास्यापि त्वया । अथ परिपूर्णो नैगमः स्थापनामिच्छति न तु संग्रहिकोऽसंग्रहिको वेति भेदवान्, अतस्तद्दृष्टान्तात् संग्रहव्यवहारयोर्न स्थापनेच्छा साधयितुम् । अत्रोच्यते–तर्हि नैगमसमानधर्माणौ द्वावपि समुदितौ संग्रहव्यवहारौ युक्तावेव । इदमत्र 5 हृदयम्—तर्हि प्रत्येकं तयोरेकतरनिरपेक्षयोः स्थापनाभ्युपगमो मा भूदिति समुदितयोस्तयोः सम्पूर्णनैगमरूपत्वाद् तदभ्युपगमः केन वार्यते ?, अविभागस्थाद् नैगमात् प्रत्येकं तदेकैकता-ग्रहणात् इति ।”–विशेषा० बृ० गा० २८५२–३.

पृ० २८. पं० १०. **‘किंच संग्रहव्यवहार’**—“इदमुक्तं भवति–यथा विभिन्नयोः संग्रहव्यवहारयोर्नैगमोऽन्तर्भूतः तथा स्थापनाभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तयोरन्तर्भूतमेव । ततो भिन्नं 10 भेदेन तौ तदिच्छत एव–स्थापनासामान्यं संग्रह इच्छति, स्थापनाविशेषांस्तु व्यवहार इत्येतदेव युक्तम् तदनिच्छा तु सर्वथाऽनयोर्न युक्तेति ।”–विशेषा० बृ० गा० २८५४.

पृ० २८. पं० १६. **‘तत्र यद्यपि जीवस्य’**–“चेतनावतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्य जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः, यः काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मा-ऽक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवः देवताप्रतिकृतिवत् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति । द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञा- 15 स्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव इत्युच्यते। अथवा शून्योऽयं भङ्गः । यस्य हि अजीवस्य सतो भव्यं जीवत्वं स्यात् स द्रव्यजीवः स्यात् अनिष्टं चैतत् । भावतो जीवः औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावयुक्ताः उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ताश्च द्विधा वक्ष्यन्ते ।”—

–तत्त्वार्थभा० १.५; तत्त्वार्थभा० वृ० १. ५.
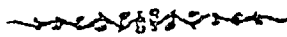
नाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवंभूताभासः, यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदिति । अर्थाभिधायी शब्दप्रतिक्षेपी अर्थनयाभासः । शब्दाभिधाय्यर्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः । अर्पितमभिदधानोऽनर्पितं प्रतिक्षिपन्नर्पितनयाभासः । अनर्पितमभिदधदर्पितं प्रतिक्षिपन्ननर्पिताभासः । लोकव्यवहारमभ्युपगम्य तत्त्वप्रतिक्षेपी व्यवहाराभासः । तत्त्वमभ्युपगम्य व्यवहारप्रतिक्षेपी निश्चयाभासः । ज्ञानमभ्युपगम्य क्रियाप्रतिक्षेपी ज्ञाननयाभासः । क्रियामभ्युपगम्य ज्ञानप्रतिक्षेपी क्रियानयाभास इति ।

इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना विरचितायां जैनतर्कभाषायां नयपरिच्छेदः सम्पूर्णः ।

३. निक्षेपपरिच्छेदः ।

[१. नामादिनिःक्षेपनिरूपणम् ।]

§ १. नया निरूपिताः । अथ निःक्षेपा निरूप्यन्ते । प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्या-(त्त्या)दिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निःक्षेपाः । मङ्गलादिपदार्थनिःक्षेपान्नाममङ्गलादिविनियोगोपपत्तेश्च निःक्षेपाणां फलवत्त्वम्, तदुक्तम्–"अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निःक्षेपः फलवान्" [लघी० स्ववि० ७. २] इति । ते च सामान्यतश्चतुर्धा–नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् ।

§ २. तत्र प्रकृतार्थनिरपेक्षा नामार्थान्यतरपरिणतिर्नामनिःक्षेपः । यथा सङ्केतितमात्रेणान्यार्थस्थितेनेन्द्रादिशब्देन वाच्यस्य गोपालदारकस्य शक्रादिपर्यायशब्दानभिधेया परिणतिरियमेव वा यथान्यत्रावर्तमानेन यदृच्छाप्रवृत्तेन डित्थडवित्थादिशब्देन वाच्या । तत्त्वतोऽर्थनिष्ठा उपचारतः शब्दनिष्ठा च । मेर्वादिनामापेक्षया यावद्द्रव्यभाविनी, देवदत्तादिनामापेक्षया चायावद्द्रव्यभाविनी, यथा वा पुस्तकपत्रचित्रादिलिखिता वस्त्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णावली ।

§ ३. यत्तु वस्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यते चित्रादौ तादृशाकारम्, अक्षादौ च निराकारम्, चित्राद्यपेक्षयेत्वरं नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाद्यपेक्षया च यावत्कथिकं स स्थापनानिःक्षेपः, यथा जिनप्रतिमा स्थापनाजिनः, यथा चेन्द्रप्रतिमा स्थापनेन्द्रः ।

§ ४. भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यन्निःक्षिप्यते स द्रव्यनिःक्षेपः, यथा-

ऽनुभूतेन्द्रपर्यायोऽनुभविष्यमाणेन्द्रपर्यायो वा इन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायेऽनुभविष्यमाणघृताधारत्वपर्याये च घृतघटव्यपदेशवत्तत्रेन्द्रशब्दव्यपदेशोपपत्तेः। क्वचिदप्राधान्येऽपि द्रव्यनिःक्षेपः प्रवर्तते, यथाऽङ्गारमर्दको द्रव्याचार्यः, आचार्यगुणरहितत्वात् अप्रधानाचार्य इत्यर्थः। क्वचिदनुपयोगेऽपि, यथाऽनाभोगेनेहपरलोकाद्याशंसालक्षणेनाविधिना च भक्त्यापि क्रियमाणा जिनपूजादिक्रिया द्रव्यक्रियैव, अनुपयुक्तक्रियायाः साक्षान्मोक्षाङ्गत्वाभावात्। भक्त्याऽविधिनापि क्रियमाणा सा पारम्पर्येण मोक्षाङ्गत्वापेक्षया द्रव्यतामश्नुते, भक्तिगुणेनाविधिदोषस्य निरनुबन्धीकृतत्वादित्याचार्याः।

§५. विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिःक्षेपः, यथा इन्दनक्रियापरिणतो भावेन्द्र इति।

§६. ननु भाववर्जितानां नामादीनां कः प्रतिविशेषस्त्रिष्वपि वृत्त्यविशेषात्?, तथाहि—नाम तावन्नामवति पदार्थे स्थापनायां द्रव्ये चाविशेषेण वर्तते। भावार्थशून्यत्वं स्थापनारूपमपि त्रिष्वपि समानम्, त्रिष्वपि भावस्याभावात्। द्रव्यमपि नामस्थापनाद्रव्येषु वर्तत एव, द्रव्यस्यैव नामस्थापनाकरणात्, द्रव्यस्य द्रव्ये सुतरां वृत्तेश्चेति विरुद्धधर्माध्यासाभावान्नैषां भेदो युक्त इति चेत्; न; अनेन रूपेण विरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि रूपान्तरेण विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदोपपत्तेः। तथाहि—[3]नामद्रव्याभ्यां स्थापना तावदाकाराभिप्रायबुद्धिक्रियाफलदर्शनाद्भिद्यते, यथा हि स्थापनेन्द्रे लोचनसहस्राद्याकारः, स्थापनाकर्तुश्च सद्भूतेन्द्राभिप्रायो, द्रष्टुश्च तदाकारदर्शनादिन्द्रबुद्धिः, भक्तिपरिणतबुद्धीनां नमस्करणादिक्रिया, तत्फलं च पुत्रोत्पत्त्यादिकं संवीक्ष्यते, न तथा नामेन्द्रे द्रव्येन्द्रे चेति ताभ्यां तस्य भेदः। द्र[4]व्यमपि भावपरिणामिकारणत्वान्नामस्थापनाभ्यां भिद्यते, यथा ह्यनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यम्, उपयुक्तत्वकाले उपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, यथा वा साधुजीवो द्रव्येन्द्रः सद्भावेन्द्ररूपायाः परिणतेः, न तथा नामस्थापनेन्द्राविति। नामापि स्थापनाद्रव्याभ्यामुक्तवैधर्म्यादेव भिद्यत इति। दुग्धतक्रादीनां श्वेतत्वादिनाऽभेदेऽपि माधुर्यादिना भेदवन्नामादीनां केनचिद्रूपेणाभेदेऽपि रूपान्तरेण भेद इति स्थितम्।

§७. ननु भाव एव वस्तु, किं तदर्थशून्यैर्नामादिभिरिति चेत्; न; नामादीनामपि वस्तुपर्यायत्वेन सामान्यतो भावत्वानतिक्रमात्, अविशिष्टे इन्द्रवस्तुन्युच्चरिते नामादिभेदचतुष्टयपरामर्शनात् प्रकरणादिनैव विशेषपर्यवसानात्। [6]भावाङ्गत्वेनैव वा नामादीनामुपयोगः जिननामजिनस्थापनापरिनिर्वृतमुनिदेहदर्शनाद्भावोल्लासानुभवात्। केवलं नामादित्रयं भावोल्लासेनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणमिति ऐकान्तिकात्य-

---

१ तुलना–विशेषा० गा० ५२। २ तुलना–विशेषा० गा० ५३। ३ तुलना–विशेषा० गा० ५४। ४ तुलना–विशेषा० गा० ५५। ५ ०परामर्शदर्शनात्–सं०। ६ तुलना–विशेषा० गा० ५६–५८।

परिशिष्टानि[1] ।

१. जैनतर्कभाषागतानां विशेषनाम्नां सूची ।

---

१. परिशिष्टेषु स्थूलाङ्काः पृष्ठसूचकाः सूक्ष्माश्च पङ्क्तिसूचकाः ।

न्निष्कृष्य भावस्याभ्यर्हितत्वमनुमन्यन्ते प्रवचनवृद्धाः । एतच्च भिन्नवस्तुगतनामाद्यपेक्षयोक्तम् । अभिन्नवस्तुगतानां तु नामादीनां भावाविनाभूतत्वादेव वस्तुत्वम्, सर्वस्य वस्तुनः स्वाभिधानस्य नामरूपत्वात्, स्वाकारस्य स्थापनारूपत्वात्, कारणतायाश्च द्रव्यरूपत्वात्, कार्यापन्नस्य च स्वस्य भावरूपत्वात् । यदि च घटनाम घटधर्मो न भवेत्तदा ततस्तत्संप्रत्ययो न स्यात्, तस्य स्वापृथग्भूतसंबन्धनिमित्तकत्वादिति सर्वं नामात्मकमेष्टव्यम् । साकारं च सर्वं मति-शब्द-घटादीनामाकारवत्त्वात्, नीलाकारसंस्थानविशेषादीनामाकाराणामनुभवसिद्धत्वात् । द्रव्यात्मकं च सर्वं उत्फणविफणकुण्डलिताकारसमन्वितसर्पवत् विकाररहितस्याविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामस्य द्रव्यस्यैव सर्वत्र सर्वदानुभवात् । भावात्मकं च सर्वं परापरकार्यक्षणसन्तानात्मकस्यैव तस्यानुभवादिति चतुष्टयात्मकं जगदिति नामादिनयसमुदयवादः ।

[२. निक्षेपाणां नयेषु योजना ।]

§ ८. अथ नामादिनिक्षेपा नयैः सह योज्यन्ते । तत्र नामादित्रयं द्रव्यास्तिकनयस्यैवाभिमतम्, पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव । आद्यस्य भेदौ संग्रहव्यवहारौ, नैगमस्य यथाक्रमं सामान्यग्राहिणो विशेषग्राहिणश्च अनयोरेवान्तर्भावात् । ऋजुसूत्रादयश्च चत्वारो द्वितीयस्य भेदा इत्याचार्यसिद्धसेनमतानुसारेणाभिहितं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः–

"नामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो अ पज्जवणयस्स ।
संगहववहारा पढमगस्स सेसा उ इयरस्स ॥" [७५]

इत्यादिना विशेषावश्यके । स्वमते तु नमस्कारनिक्षेपविचारस्थले–

"भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" [२८४७]

इति वचनात् त्रयोऽपि शब्दनयाः शुद्धत्वाद्भावमेवेच्छन्ति ऋजुसूत्रादयस्तु चत्वारोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वादित्युक्तम् । ऋजुसूत्रो नामभावनिक्षेपावेवेच्छतीत्यन्ये; तत्र (तन्न); ऋजुसूत्रेण द्रव्याभ्युपगमस्य सूत्राभिहितत्वात्, पृथक्त्वाभ्युपगमस्य परं निषेधात् । तथा च सूत्रम्—"उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सयं, पुहत्तं नेच्छइ त्ति" [अनुयो० सू० १४] । कथं चायं पिण्डावस्थायां सुवर्णादिद्रव्यमनाकारं भविष्यत्कुण्डलादिपर्यायलक्षणभावहेतुत्वेनाभ्युपगच्छन् विशिष्टेन्द्राद्यभिलापहेतुभूतां साकारामिन्द्रादिस्थापनां नेच्छेत् ? न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । किञ्च, इन्द्रादिसंज्ञामात्रं तदर्थरहितमिन्द्रादिशब्दवाच्यं वा नामेच्छन्नयं भावकारणत्वाविशेषात् कुतो नामस्थापने

२. जैनतर्कभाषागतानां पारिभाषिकशब्दानां सूची ।

स्वागमेनैव निश्चितत्वात् वादिकोटेश्च तेनैव आगमेन बाधितत्वात् संशयरूपपक्षतायाः अभावेन तत्र नानुमितिसम्भव इत्यर्थः ।

पृ० १५. पं० २४. ननु अनुमानोत्तरकालं तु प्रतिवादिना परीक्ष्य आगमः स्वीकरिष्यते अनुमानकाले पुनः परम्परायातेन अभिनिवेशमात्रेण तेन स्वीकृत इति तदाश्रयेण साधनमुपन्यस्यन् वादी कथमुपालम्भास्पदं भवेत् ?, इत्याशङ्कायामाह **'परीक्षाकाले तद्बाधात्'** इति । तथा च अनुमानावसरे वादिविरोधं सहमानस्य प्रतिवादिनः स्वागमप्रामाण्यं न निश्चितं नाम । एवं च यथा प्रतिवाद्यागमः वादिनोऽनिश्चितप्रामाण्यकस्तथा प्रतिवादिनोप्यनिश्चितप्रामाण्यक इति न तदाश्रयेण साधनोपन्यासः कामपि इष्टसिद्धिं पुष्णातीति भावः ।

पृ० १५. पं० २७. **'प्रसङ्गविपर्यय'**—"प्रसङ्गः खल्वत्र व्यापकविरुद्धोपलब्धिरूपः । अनेकव्यक्तिवर्तित्वस्य हि व्यापकमनेकत्वम् , ऐकान्तिकैकरूपस्यानेकव्यक्तिवर्तित्वविरोधात् । अनेकत्रवृत्तेरनेकत्वं व्यापकं तद्विरुद्धं च सर्वथैक्यं सामान्ये त्वयाऽभ्युपगम्यते ततो नाऽनेकवृत्तित्वं स्यात्, विरोध्यैक्यसद्भावेन व्याप्येन व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्त्या व्याप्यस्यानेकवृत्तित्वस्याऽवश्यं निवृत्तेः । न च तन्निवृत्तिरभ्युपगतेति लब्धावसरः प्रसङ्गविपर्ययाख्यो विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरूपोऽत्र मौलो हेतुः । यथा यदनेकवृत्ति तदनेकम् अनेकवृत्ति च सामान्यमिति । एकत्वस्य हि विरुद्धमनेकत्वं तेन व्याप्तमनेकवृत्तित्वं तस्योपलब्धिरिह । मौलत्वं चास्यैतदपेक्षयैव प्रसङ्गस्योपन्यासात् । न चायमुभयोरपि न सिद्धः । सामान्ये जैनयौगाभ्यां तदभ्युपगमात् । ततोऽयमेव मौलो हेतुरयमेव वस्तुनिश्चायकः ।"—स्या० र० पृ० ५५३-४.

पृ० १५. पं० २७. **'अनेकवृत्तित्व'**—अनेकवृत्तित्वस्य व्यापकं यदनेकत्वं तस्य या सर्वथैक्यस्वीकारे सति निवृत्तिः तयैव व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यीभूतानेकवृत्तित्वनिवृत्तेः प्रसङ्गः 'यदि सामान्यं सर्वथैकं स्यात् तदा अनेकवृत्ति न स्यात्' इत्यादिरूपो यः क्रियते स एव सामान्येऽनेकत्वसाधके अनेकवृत्तित्वरूपे मौलहेतौ 'सामान्यमनेकवृत्ति भवतु मा भूदनेकम्' इत्येवंरूपायाः व्यभिचारशङ्कायाः निवर्तकत्वेन तर्कापरपर्यायः परिकरो अभिधीयते एतादृशस्य प्रसङ्गाख्यपरिकरस्य व्यभिचारशङ्काविधूननद्वारा मौलहेतुगतव्याप्तिसिद्धिपर्यवसायिनः उपन्यासस्य सर्वसम्मततया न्याय्यत्वमेव इति भावः ।

पृ० १६. पं० १. "नन्वेवं प्रसङ्गेऽङ्गीक्रियमाणे बुद्धिरचेतना, उत्पत्तिमत्वादित्ययमपि साङ्ख्येन ख्यापितः प्रसङ्गहेतुर्भविष्यति । तथा हि यदि बुद्धिरुत्पत्तिमती भवद्भिरभ्युपगम्यते तदानीं तद्व्यापकमचैतन्यमपि तस्याः स्यान्न चैवमतो नोत्पत्तिमत्यपीयम्" [स्या० र० पृ० ५५४.] इत्याशङ्क्य समाधत्ते **'बुद्धिरचेतनेत्यादौ च'** इत्यादिना ।

"प्रसङ्गविपर्ययहेतोर्मौलस्य चैतन्याख्यस्य साङ्ख्यानां बुद्धावपि प्रतिपिद्धत्वात् चैतन्यस्वीकारेऽपि नाऽनयोः प्रसङ्ग-तद्विपर्यययोर्गमकत्वं अनेन प्रसङ्गेनात्र प्रसङ्गविपर्ययहेतोर्व्याप्तिसिद्धिनिबन्धनस्य विरुद्धधर्माध्यासस्य विपक्षे बाधकप्रमाणस्यानुपस्थापनात् । चैतन्योत्पत्तिमत्त्वयो-

विरोधाभावात् । एवं ह्यचेतनत्वेनोत्पत्तिमत्त्वं व्याप्तं भवेद्यदि चैतन्येन तस्य विरोधः स्यात् नान्यथा । न चैवमिति नैतौ प्रसङ्गतद्विपर्ययौ गमकौ भवतः ।" स्या० र० पृ० ५५४–५.

पृ० १६. पं० १६. 'पक्षशुद्ध्यादिकमपि'–"तत्र वक्ष्यमाणप्रतीतसाध्यधर्मविशेषणत्वादिपक्षदोषपरिहारादिः पक्षशुद्धिः । अभिधास्यमानाऽसिद्धादिहेत्वाभासोद्धरणं हेतुशुद्धिः । प्रति-
5 पादयिष्यमाणसाध्यविकलत्वादिदृष्टान्तदूषणपरिहरणं दृष्टान्तशुद्धिः । उपनयनिगमनयोस्तु शुद्धी प्रमादादन्यथाकृतयोः तयोर्वक्ष्यमाणतत्स्वरूपेण व्यवस्थापके वाक्ये विज्ञेये ।"–स्या० र० पृ० ५६५.

पृ० १६. पं० २१. 'तथापि कार्याद्यनात्म'—स्या० र० पृ० ५९४. पं० २३. पृ० ५९५. पं० ६.

पृ० १८. पं० ९. 'नन्वन्यतरासिद्धः'–प्रमेयकमलमार्त्तण्डे [पृ० १९१] स्याद्वादरत्नाकरे
10 [पृ० १०१८] च अन्यतरासिद्धाख्यहेत्वाभासस्य नास्तित्वाशङ्कायाः–"नन्वेवमपि अस्य असिद्धत्वं गौणमेव स्यादिति चेद्; एवमेतत्; प्रमाणतो हि सिद्धेरभावात् असिद्धोऽसौ न तु स्वरूपतः" इत्यादिना यत् समाधानं कृतं तदपि अत्र पूर्वपक्षतया उपन्यस्य समाधानान्तरं दीयते ग्रन्थकृता ।

पृ० १८. पं० २९. 'धर्मभूषणेन'–"अप्रयोजको हेतुरकिंचित्करः । स द्विविधः सिद्धसाधनो बाधितविषयश्च ।"–न्यायदी० पृ० ३५ ।

15 पृ० २०. पं० १. 'शतृशानशौ'—"तौ सदिति शतृशानयोः सङ्केतितसच्छब्दवत् द्वन्द्ववृत्तिपदं तयोः सकृदभिधायकम् इत्यनेनापास्तम्, सदसत्त्वे इत्यादिपदस्य क्रमेण धर्मद्वयप्रत्यायनसमर्थत्वात् ।" तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० १४०. ।
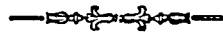
पृ० २१. पं० २०. 'जिनभद्र'–विशेषा० बृ० गा० ७५ विशेषा० गा० ७७, २२६२. ।

पृ० २३. पं० १६. तथा विशेषग्राहिणः'—"अर्प्यते विशेष्यते इत्यर्पितो विशेषः
20 तद्वादी नयः अर्पितनयः समयप्रसिद्धो ज्ञेयः । तन्मतं विशेष एवास्ति न सामान्यम् । अनर्पितमविशेषितं सामान्यमुच्यते तद्वादी नयः अनर्पितनयः । सोऽपि समयप्रसिद्ध एव बोद्धव्यः । तन्मतं तु सामान्यमेवास्ति न विशेषः ।" –विशेषा० बृ० गा० ३५८८.

पृ० २३. पं० १८. 'तथा लोकप्रसिद्धार्था' –विशेषा० गा० ३५८९।

पृ० २३. पं० २१. 'अथवा एकनय'–"अथवा यत् किमप्येकैकस्यैव नयस्य मतं तद्
25 व्यवहारः प्रतिपद्यते नान्यत् । कुतः ?। यस्मात् सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैर्विशिष्टं सर्वनयमतसमूहमयं वस्त्वसौ प्रतिपत्तुं न शक्नोति स्थूलदर्शित्वादिति । विनिश्चयस्तु निश्चयनयः यद् यथाभूतं परमार्थतो वस्तु तत् तथैव प्रतिपद्यते इति ।" विशेषा० बृ० गा० ३५९० ।

पृ० २३. पं० २४. 'तथा, ज्ञानमात्र'—विशेषा० बृ० गा० ३५९२ । नयोपदेश का० १२९–१३८.

30 पृ० २३. पं० २५. 'तत्रर्जुसूत्रा' –विशेषा० गा० २६२१–२६३२ ।

पृ० २३. पं० २९. 'स्थितपक्षत्वात्'—अत्रायं भावः—स्थितपक्षः सिद्धान्तपक्ष इति गीयते। तथा च सिद्धान्तपक्षे ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इति नियमात् ज्ञानादित्रयपर्याप्तैव मोक्षनिरूपित-कारणता शिक्षाऽभ्यासप्रतिभात्रयपर्याप्ता काव्यकारणतेव पर्यवस्यति. न तु तृणारणिमणिवत् प्रत्येक-ज्ञानादिविश्रान्ता।

नैगमादिनयानां मते पुनः मोक्षनिरूपितकारणतायाः प्रत्येकं ज्ञानादिषु, वह्निकारणतायाः प्रत्येकं तृणारणिमणिष्विव विश्रान्ततया न तेषां स्थितपक्षत्वं सम्यग्दृष्टित्वं वा। अयमेव हि नयवाद-सिद्धान्तवादयोर्भेदो यन्नयाः त्रीनपि ज्ञानादीन् मोक्षकारणत्वेन मन्यमाना अपि प्रत्येकस्मिन् स्वात-न्त्र्येणैव कारणत्वं कल्पयन्तस्त्रीनपि पृथक् पृथक् मोक्षकारणत्वेन स्थापयन्ति। तन्मते हि ज्ञानमात्र-सेविनाम्, दर्शनमात्रसेविनाम्, चारित्रमात्रसेविनां च तुल्यतया मोक्षाधिकारात्। सिद्धान्तवादस्तु न कुतोऽपि ज्ञानादेरेकैकस्मात् मोक्षलाभमिच्छति किंतु परस्परसहकारिभावापन्नात् तत्त्रयादेव। अत एव व्यस्तकारणतावादी नयः समस्तकारणतावादी च सिद्धान्त इत्यप्यभिधातुं शक्यम्। अत्रार्थे विशेषा० २६३२. गाथानुसन्धेया।

पृ० २४. पं० ६. 'किंतु भावघटस्यापि'—"अथवा प्रत्युत्पन्नऋजुसूत्रस्याविशेषित एव सामान्येन कुम्भोऽभिप्रेतः, शब्दनयस्य तु स एव सद्भावादिभिः विशेषिततरोऽभिमतः इत्येवम-नयोर्भेदः। तथाहि—स्वपर्यायैः परपर्यायैः उभयपर्यायैश्च सद्भावेन असद्भावेन उभयेन चार्पितो विशेषितः कुम्भः—कुम्भाकुम्भावक्तव्योभयरूपादिभेदो भवति—सप्तभङ्गीं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। तदेवं स्याद्वादद्दष्टं [ऋजुसूत्राभ्युपगतं] सप्तभेदं घटादिकमर्थं यथाविवक्षमेकेन केनापि भङ्गकेन विशे-षिततरमसौ शब्दनयः प्रतिपद्यते नयत्वात् ऋजुसूत्राद् विशेषिततरवस्तुग्राहित्वाच्च। स्याद्वादिनस्तु संपूर्णसप्तभङ्ग्यात्मकमपि प्रतिपद्यन्त इति।"—विशेषा० बृ० गा० २२३१-२

पृ० २४. पं० १२. 'नयवाक्यमपि'—तत्त्वार्थश्लोकवा० १. ३३. ५१-५५. स्या० र० ७. ५३.

पृ० २५. पं० १९. 'तत्र प्रकृतार्थं'—

"पज्जायाऽणभिधेयं ठिअमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं।
जाइच्छियं च नामं जाव दव्वं च पाएण॥" -विशेषा० गा० २५

"यत् कस्मिंश्चिद् भृतकदारकादौ इन्द्राद्यभिधानं क्रियते, तद् नाम भण्यते। कथंभूतं तत् ?, इत्याह—पर्यायाणां शक्र-पुरन्दर-पाकशासन-शतमख-हरिप्रभृतीनां समानार्थवाचकानां ध्वनीनाम् अनभिधेयम्—अवाच्यम्, नामवतः पिण्डस्य संबन्धी धर्मोऽयं नाम्न्युपचरितः। स हि नामवान् भृत-कदारकादिपिण्डः किलैकेन सङ्केतितमात्रेणेन्द्रादिशब्देनैवाऽभिधीयते न तु शेषैः शक्र-पुरन्दर-पाकशासनादिशब्दैः। अतो नामयुक्तपिण्डगतधर्मो नाम्न्युपचरितः पर्यायानभिधेयमिति।

पुनरपि कथंभूतं तन्नाम ?, इत्याह—'ठिअमण्णत्थे'त्ति विवक्षिताद् भृतकदारकादिपिण्डा-दन्यश्चासावर्थश्चाऽन्यार्थो देवाधिपादिः, सद्भावतस्तत्र यत् स्थितम्, भृतकदारकादौ तु सङ्केत-

मात्रतयैव वर्तते। अथवा सद्भावतः स्थितमन्वर्थे अनुगतः संबद्धः परमैश्वर्यादिकोऽर्थो यत्र सोऽन्वर्थः शचीपत्यादिः। सद्भावतस्तत्र स्थितं भृतकदारकादौ तर्हि कथं वर्तते ?, इत्याह—तदर्थनिरपेक्षं तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थस्तदर्थः परमैश्वर्यादिस्तस्य निरपेक्षं सङ्केतमात्रेणैव तदर्थशून्ये भृतकदारकादौ वर्तते इति पर्यायानभिधेयम्, स्थितमन्यार्थे, अन्वर्थे वा, तदर्थनिरपेक्षं यत् क्वचिद् भृतकदारकादौ इन्द्राद्यभिधानं क्रियते तद् नाम, इतीह तात्पर्यार्थः।

प्रकारान्तरेणापि नाम्नः स्वरूपमाह—यादृच्छिकं चेति। इदमुक्तं भवति—न केवलमनन्तरोक्तम्, किन्त्वन्यत्रावर्तमानमपि यदेवमेव यदृच्छया केनचिद् गोपालदारकादेरभिधानं क्रियते, तदपि नाम, यथा डित्थो डवित्थ इत्यादि। इदं चोभयरूपमपि कथंभूतम् ?, इत्याह—यावद् द्रव्यं च प्रायेणेति—यावदेतद्वाच्यं द्रव्यमवतिष्ठते तावदिदं नामाप्यवतिष्ठत इति भावः। किं सर्वमपि ?। न, इत्याह—प्रायेणेति, मेरु-द्वीप-समुद्रादिकं नाम प्रभूतं यावद्द्रव्यभावि दृश्यते, किञ्चित्तु अन्यथापि समीक्ष्यते, देवदत्तादिनामवाच्यानां द्रव्याणां विद्यमानानामपि अपरापरनामपरावर्तस्य लोके दर्शनात्। सिद्धान्तेऽपि यदुक्तम्—'नामं आवकहियं ति' तत् प्रतिनियतजनपदादिसंज्ञामेवाङ्गीकृत्य, यथोत्तराः कुरव इत्यादि। तदेवं प्रकारद्वयेन नाम्नः स्वरूपमत्रोक्तम्। एतच्च तृतीयप्रकारस्योपलक्षणम्, पुस्तक-पत्र-चित्रादिलिखितस्य वस्त्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णालीमात्रस्याप्यन्यत्र नामत्वेनोक्तत्वादिति। एतच्च सामान्येन नाम्नो लक्षणमुक्तम्।"—विशेषा० वृ० गा० २५.

"यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम्।
पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा॥"

अस्या आर्याया व्याख्या अनुयोगद्वारटीकातः [पृ० ११] अवसेया।

पृ० २६. पं० ४. '**क्वचिदनुपयोगेपि**'—"इदमुक्तं भवति—योऽनुपयुक्तो जिनप्रणीतां मङ्गलरूपां प्रत्युपेक्षणादिक्रियां करोति स नोआगमतो ज्ञशरीर-भव्यशरीरातिरिक्तं द्रव्यमङ्गलम्, उपयोगरूपोऽत्रागमो नास्तीति नोआगमता। ज्ञशरीर-भव्यशरीरयोर्ज्ञानापेक्षा द्रव्यमङ्गलता, अत्र तु क्रियापेक्षा, अतस्तद्व्यतिरिक्तत्वम्, अनुपयुक्तस्य क्रियाकरणात् तु द्रव्यमङ्गलत्वं भावनीयम्, उपयुक्तस्य तु क्रिया यदि गृह्येत तदा भावमङ्गलतैव स्यादिति भावः।"—विशेषा० वृ० गा० ४६.

पृ० २६. पं० ८. '**विवक्षित**'—

"भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः।
सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियाऽनुभवात् ॥" इति।

"अत्रायमर्थः—भवनं विवक्षितरूपेण परिणमनं भावः, अथवा भवति विवक्षितरूपेण संपद्यत इति भावः। कः पुनरयम् ?, इत्याह—वक्तुर्विवक्षिता इन्दन-ज्वलन-जीवनादिका या क्रिया तस्या अनुभूतिरनुभवनं तया युक्तो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तः, सर्वज्ञैः समाख्यातः। क इव ?, इत्याह—इन्द्रादिवत् स्वर्गाधिपादिवत्, आदिशब्दाज्ज्वलन-जीवादिपरिग्रहः। सोऽपि कथं भावः ?, इत्याह—इन्दनादिक्रियानुभवात् इति, आदिशब्देन ज्वलन-जीवनादिक्रियास्वीकारः, विवक्षितेन्दनादिक्रियान्वितो लोके प्रसिद्धः पारमार्थिकपदार्थो भाव उच्यते।"—विशेषा० वृ० गा० ४९.

पृ० २७. पं० ४. 'यदि च घटनाम'–"अयमभिप्रायः–वस्तुनः स्वरूपं नाम, तत्प्रत्यय-हेतुत्वात् स्वधर्मवत्, इह यद् यस्य प्रत्ययहेतुस्तत् तस्य धर्मः, यथा घटस्य स्वधर्मा रूपादयः, यच्च यस्य धर्मो न भवति न तत् तस्य प्रत्ययहेतुः, यथा घटस्य धर्माः पटस्य, संपद्यते च घटाभिधानाद् घटे संप्रत्ययः, तस्मात् तत् तस्य धर्मः, सिद्धश्च हेतुरावयोः, घटशब्दात् पटादि-व्यवच्छेदेन घट इति प्रतिपत्त्यनुभूतेः ।"–विशेषा० बृ० गा० ६१. 5

पृ० २७. पं० ६. 'साकारं च सर्वं'–"मतिस्तावत् ज्ञेयाकारग्रहणपरिणतत्वात् आकारवती, तदनाकारवत्त्वे तु नीलस्येदं संवेदनं न पीतादेः इति नैयत्यं न स्यात् नियामकाभावात्। नीलाद्याकारो हि नियामकः, यदा च स नेष्यते तदा 'नीलग्राहिणी मतिः न पीतादिग्राहिणी' इति कथं व्यव-स्थाप्यते विशेषाभावात् ? । तस्मादाकारवत्येव मतिरभ्युपगन्तव्या । शब्दोपि पौद्गलिकत्वादा-कारवानेव । घटादिकं वस्तु आकारवत्त्वेन प्रत्यक्षसिद्धमेव । तस्मात् यदस्ति तत् सर्वमाकारमयमेव 10 यत्त्वनाकारं तन्नास्त्येव वन्ध्यापुत्रादिरूपत्वात् तस्य ।"–विशेषा बृ० गा० ६४.

पृ० २७. पं० १०. 'चतुष्टया'–"घट-पटादिकं यत् किमपि वस्त्वस्ति लोके तत् सर्वं प्रत्येकमेव निश्चितं चतुष्पर्यायम् । न पुनर्यथा नामादिनयाः प्राहुः–यथा केवलनाममयं वा, केवला-काररूपं वा, केवलद्रव्यताश्लिष्टं वा केवलभावात्मकं वा । प्रयोगः–यत्र शब्दार्थबुद्धिपरिणामसद्भा-वः तत् सर्वं चतुष्पर्यायम् । चतुष्पर्यायत्वाभावे शब्दादिपरिणामभावोऽपि न दृष्टः, यथा शशशृङ्गे । 15 तस्माच्छब्दादिपरिणामसद्भावे सर्वत्र चतुष्पर्यायत्वं निश्चितम् इति भावः । इदमुक्तं भवति–अन्योन्यसंवलितनामादिचतुष्टयात्मन्येव वस्तुनि घटादिशब्दस्य तदभिधायकत्वेन परिणतिर्दृष्टा, अर्थस्यापि पृथुबुध्नोदराकारस्य नामादिचतुष्टयात्मकतयैव परिणामः समुपलब्धः, बुद्धेरपि तदाकार-ग्रहणरूपतया परिणतिस्तदात्मन्येव वस्तुनि अवलोकिता । न चेदं दर्शनं भ्रान्तं बाधकाभावात् । नाप्यदृष्टाशङ्कयाऽनिष्टकल्पना युक्तिमती, अतिप्रसङ्गात् । नहि दिनकराऽस्तमयोदयोपलब्धरात्रिन्दि 20 वादिवस्तूनां बाधकसंभावनयाऽन्यथात्वकल्पना संगतिमावहति । न चेहापि दर्शनाऽदर्शने विहा-याऽन्यद् निश्चायकं प्रमाणमुपलभामहे । तस्मादेकत्वपरिणत्यापन्ननामादिभेदेष्वेव शब्दादिपरि-णतिदर्शनात् सर्वं चतुष्पर्यायं वस्त्विति स्थितम् ।" –विशेषा० बृ० गा० ७३.

पृ० २७. पं० १२. 'तत्र नामादित्रयम्'–

"दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ । 25
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥" सन्मति० १. ४.

"अत्र च संग्रहनयः शुद्धो द्रव्यास्तिकः व्यवहारनयस्तु अशुद्धः इति तात्पर्यार्थः ।"
–सन्मतिटी० पृ० ३१५.

"मूलणिमेण पज्जवणयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो ।
तस्स उ सद्दाइआ साहप्पसाहा सुहुमभेया ॥" सन्मति० १. ५. 30

"पर्यायनयस्य प्रकृतिराद्या ऋजुसूत्रः स त्वशुद्धा, शब्दः शुद्धा, शुद्धतरा समभिरूढः, अत्यन्ततः शुद्धा त्वेवंभूत इति ।" –सन्मतिटी० पृ० ३१७.

सूरिश्रीविजयादिदेवसुगुरोः पट्टाम्बराहर्मणौ,
　　सूरिश्रीविजयादिसिंहसुगुरौ शक्रासनं भेजुषि ।
तत्सेवाऽप्रतिमप्रसादजनितश्रद्धानशुद्धया कृतः,
　　ग्रन्थोऽयं वितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं तथा ॥ १ ॥

यस्यासन् गुरवोऽत्र जीतविजयप्राज्ञाः प्रकृष्टाशयाः,
　　भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः
　　तेन न्यायविशारदेन रचिता स्तात्तर्कभाषा मुदे ॥ २ ॥

तर्कभाषामिमां कृत्वा मया यत्पुण्यमर्जितम् ।
प्राप्नुयां तेन विपुलां परमानन्दसम्पदम् ॥ ३ ॥

पूर्वं[1] न्यायविशारदत्वबिरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः
　　न्यायाचार्यपदं ततः कृतशतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ।
शिष्यप्रार्थनया नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशुः
　　तत्त्वं किञ्चिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥ ४ ॥

---

१ दृश्यमानादर्शेषु दृश्यते वृत्तमिदं पृथगङ्कान्वितम्, तेनानुमीयतेऽदो यदन्यप्रकरणादेतत्कर्तृकादुपनीतं अवेत्केनापि, यद्वा प्रकरणग्रन्थत्वेनास्य शिष्यशिक्षानिमित्तकस्वक्रियाज्ञापनाय पूज्यपादैरेवेदं पृथग्न्यस्तं पश्चाद्भवेत्–मु–टि० । व० प्रतौ चतुर्थपद्यं नास्त्येव ।

जैनतर्कभाषायाः

॥ तात्पर्यसङ्ग्रहा वृत्तिः ॥

न्यायविशारदं नत्वा यशोविजयवाग्मिनम् ।
तन्यते तर्कभाषाया वृत्तिस्तात्पर्यसङ्ग्रहा ॥

पृ० १. पं० ६. यद्यपि सन्मतिटीकाकृता अभयदेवेन द्वितीयकाण्डप्रथमगाथाव्याख्यायां दर्शनस्यापि प्रामाण्यं स्पष्टमुक्तम्, यद्यपि च स्वयं ग्रन्थकारेणापि [पृ० ५. पं० १०.] सामान्यमात्रग्राहिणो नैश्चयिकावग्रहत्वं वदता दर्शनस्य मतिज्ञानोपयोगान्तर्गतत्वेनैव प्रामाण्यं सूचितं भाति तथापि माणिक्यनन्दि-वादिदेवसूरिप्रभृतिभिर्जैनतार्किकैः यत् दर्शनस्य प्रमाणकोटेर्वहिर्भावसमर्थनं कृतं तदभिप्रेत्य ग्रन्थकृता अत्र दर्शनस्य प्रमाणालक्ष्यत्वं मन्वानेन **'दर्शनेऽतिव्याप्तिवारणाय'** इत्याद्युक्तम् ।

पृ० १. पं० ७. **'मीमांसकादीनाम्'**–कुमारिलप्रभृतयो हि ज्ञानमात्रस्य परोक्षत्वेन परप्रकाश्यत्वं मन्वानाः अर्थप्राकट्याख्येन तत्फलेनैव हेतुना तदनुमितिमङ्गीकुर्वाणाः तस्य स्वप्रकाशत्वं निरस्यन्तीति ते परोक्षवुद्धिवादिनोऽभिधीयन्ते ।

पृ० १. पं० ८. जैनमते हि सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशत्वनियमात् 'स्वपर'इति विशेषणाऽभावेऽपि स्वपरव्यवसायित्वरूपस्य अर्थस्य सिद्धान्तवलेनैव लाभात् 'स्वपर'इति विशेषणं कस्मात् ?, इत्याशङ्कां निवारयितुमुक्तम्–**'स्वरूपविशेषणार्थम्'** इत्यादि । तथा च नेदं विशेषणं किञ्चिद्व्यावर्तकतया लक्षणे निवेशितं येन व्यावृत्त्यभावप्रयुक्ता तद्वैयर्थ्याशङ्का स्यात् । किन्तु स्वरूपमात्रनिदर्शनतात्पर्येणैव तत् तत्र निवेशितम् । न च स्वरूपविशेषणे व्यावृत्तिलाभप्रत्याशा । विशेष्यस्वरूपविषयकबोधजननरूपं तत्फलं तु अत्रापि निर्वाधमिति नैतस्य विशेषणस्य वैयर्थ्याशङ्का ।

पृ० १. पं० ९. **'ननु यद्येवम्'**–प्रस्तुतस्य शङ्कासमाधानग्रन्थस्य मूलं स्याद्वादरत्नाकरे [पृ० ५२.] इत्थं दृश्यते–

"ज्ञानस्याऽथ प्रमाणत्वे फलत्वं कस्य कथ्यते ? ।
स्वार्थसंवित्तिरस्त्येव ननु किन्न विलोक्यते ? ॥
स्यात्फलं स्वार्थसंवित्तिर्यदि नाम तदा कथम् ।
स्वपरव्यवसायित्वं प्रमाणे घटनामियात् ? ॥

३. जैनतर्कभाषागतानामवतरणानां सूची ।

४. तात्पर्यसंग्रहवृत्त्यन्तर्गतानां विशेषनाम्नां सूची ।

उच्यते—

स्यादभेदात् प्रमाणस्य स्वार्थव्यवसितेः फलात् ।
नैव ते सर्वथा कश्चिद् दूषणक्षण ईक्ष्यते ॥"

पृ० १. पं० ११. 'स्वव्यवसायित्वात्'—ननु देवसूरिकृतं 'स्वपर'इत्यादिसूत्रं तदीयां
5 च रत्नाकरव्याख्यामवलम्ब्य प्रमाणस्य फलं दर्शयता श्रीमता उपाध्यायेन 'स्वार्थव्यवसितेरेव
फलत्वात्' इत्युक्तम्; अस्य च उक्तसूत्र-तदीयव्याख्यानुसारी स्वपरव्यवसितिरेवार्थः फलत्वेन
पर्यवस्यति । तथा च अत्रत्यः स्वमात्रव्यवसितेः फलत्वप्रदर्शनपरः आशङ्काग्रन्थः कथं सङ्गच्छेत ?,
यतो हि 'स्वपरव्यवसायि' इत्यादिसूत्रव्याख्यायां अग्रेतने च 'स्वपरव्यसितिक्रियारूपाऽज्ञान-
निवृत्त्याख्यं फलं तु' इत्यादिसूत्रे [प्र. न. ६. १६] स्वयं देवसूरिणा स्वपरव्यवसितेरेव फलत्वस्य
10 प्रतिपादनात् । किञ्च, प्रमाणफलस्वरूपविषयको जैनतर्कसिद्धान्तोऽपि इदानीं यावन्निर्विवादं
स्वपरप्रकाशयोरेव फलत्वं प्रतिपादयन् सर्वत्र दृश्यते इति तं सिद्धान्तमपि प्रस्तुतशङ्काग्रन्थः कथं
न बाधेत इति चेत्; अवधेहि; यद्यपि स्वपरव्यवसितेरेव प्रमाणफलत्वं निर्विवादं जैनतर्कसम्मतं
तथापि अत्र ग्रन्थकृता विज्ञानवादीयबौद्धपरम्परायां लब्धप्रतिष्ठः स्वमात्रसंवेदनस्य प्रमाण-
फलत्वसिद्धान्तः, इदानीं यावत् जैनतर्कपरम्परायां अलब्धप्रतिष्ठोऽपि औचित्यं समीक्ष्य सन्नि-
15 वेशितः । तथा च ग्रन्थकर्तुस्तात्पर्यमत्र इत्थं भाति—यद्यपि ज्ञानं स्वं परं चोभयं प्रकाशयति
तथापि तदीयं स्वमात्रप्रकाशनं फलकोटौ निपतति । स्वमात्रप्रकाशनस्य फलत्वोक्तावपि वस्तुतः
ज्ञानात्मकस्वप्रकाशनस्य 'विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम्, ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः' [मुक्ता० का० १३६.]
इति सिद्धान्तानुसारेण स्वविषयविषयकत्वान्यथानुपपत्त्या परप्रकाशनगर्भितत्वमपि पर्यवस्यति
इति परव्यवसितेः अर्थादेव लभ्यत्वेन गौरवादेव स्वपरोभयव्यवसितेः साक्षात् फलत्वेनाभिधानं
20 ग्रन्थकृता नादृतम् । प्रमाणफलयोरभेदपक्षं समाश्रित्य च प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायित्वोक्तिः फलस्य
च स्वपरव्यवसितित्वोक्तिः सङ्गमिता । ग्रन्थकर्तुरयमभिप्रायः अग्रेतनेन 'ज्ञानाभावनिवृत्तिस्त्वर्थ-
ज्ञातताव्यवहारनिबन्धनस्वव्यवसितिपर्यवसितैव सामान्यतः फलमिति द्रष्टव्यम्' [पृ० ११. पं०
२६] इति ग्रन्थेनापि स्फुटीभवति ।

पृ० १. पं० १६. 'ततोऽर्थ'—श्रीमता विद्यानन्देन स्वकीयस्य शक्तिकरणत्वपक्षस्य
25 तात्पर्यं प्रस्तुतपद्यव्याख्यायामित्थं प्रकटीकृतम्—"नहि अन्तरङ्गबहिरङ्गार्थग्रहणरूपात्मनो ज्ञान-
शक्तिः करणत्वेन कथञ्चिन्निर्दिश्यमाना विरुध्यते, सर्वथा शक्तितद्वतोर्भेदस्य प्रतिहननात् । ननु
च ज्ञानशक्तिर्यदि प्रत्यक्षा तदा सकलपदार्थशक्तेः प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् अनुमेयत्वविरोधः । यदि
पुनरप्रत्यक्षा ज्ञानशक्तिस्तदा तस्याः करणज्ञानत्वे प्राभाकरमतसिद्धिः, तत्र करणज्ञानस्य परोक्षत्व-
व्यवस्थितेः फलज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वोपगमात् । ततः प्रत्यक्षकरणज्ञानमिच्छतां न तच्छक्तिरूप-
30 मेषितव्यं स्याद्वादिभिः इति चेत्; तदनुपपन्नम्; एकान्ततोऽस्मदादि प्रत्यक्षत्वस्य करणज्ञाने
अन्यत्र वा वस्तुनि प्रतीतिविरुद्धत्वेनाऽनभ्युपगमात् । द्रव्यार्थतो हि ज्ञानं अस्मदादेः प्रत्यक्षम्,
प्रतिक्षणपरिणामशक्त्यादिपर्यायार्थतस्तु न प्रत्यक्षम् । तत्र स्वार्थव्यसायात्मकं ज्ञानं स्वसं-

विशेषनाम्नां सूची

सुखादिना सुखान्तेन लालान्तेन दिलादिना ।
महेन्द्रेण च संभूय कृतिरेषा समापिता ॥

विदितं फलं प्रमाणाभिन्नं वदतां करणज्ञानं प्रमाणं कथमप्रत्यक्षं नाम ? । न च येनैव रूपेण तत्प्रमाणं तेनैव फलं येन विरोधः । किं तर्हि ? । साधकतमत्वेन प्रमाणं साध्यत्वेन फलम् । साधकतमत्वं तु परिच्छेदनशक्तिरिति प्रत्यक्षफलज्ञानात्मकत्वात् प्रत्यक्षं शक्तिरूपेण परोक्षम् । ततः स्यात् प्रत्यक्षं स्यादप्रत्यक्षम् इत्यनेकान्तसिद्धिः । यदा तु प्रमाणाद्भिन्नं फलं हानोपादानोपेक्षाज्ञानलक्षणं तदा स्वार्थव्यवसायात्मकं करणसाधनं ज्ञानं प्रत्यक्षं सिद्धमेवेति न परमतप्रवेशः तच्छक्तेरपि सूक्ष्मायाः परोक्षत्वात् । तदेतेन सर्वं कर्त्रादिकारकत्वेन परिणतं वस्तु कस्यचित् प्रत्यक्षं परोक्षं च कर्त्रादिशक्तिरूपतयोक्तं प्रत्येयम् । ततो ज्ञानशक्तिरपि च करणत्वेन निर्दिष्टा न स्वागमेन युक्त्या च विरुद्धा इति सूक्तम् ।" –तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ६०.

विद्यानन्दीयं मतं पराकर्तुकामेन श्रीमता देवसूरिणा तदीयपक्षोपन्यासपुरःसरमित्थं निराकरणं कृतम्–"केचित्तु–'ततोऽर्थग्रहणाकारा....' इति परमार्थतो भावेन्द्रियस्यैव अर्थग्रहणशक्तिलक्षणस्य साधकतमतया करणताध्यवसायादिति च ब्रुवाणा लब्धीन्द्रियं प्रमाणं समगिरन्त; तन्न समगंस्त; उपयोगात्मना करणेन लब्धेः फले व्यवधानात्, सन्निकर्षादिवदुपचारत एव प्रमाणतोपपत्तेः ।

अथ न जैनानामेकान्तेन किञ्चित् प्रत्यक्षमप्रत्यक्षं वा, तदिह द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षा ज्ञानशक्तिः पर्यायार्थतस्तु परोक्षा । अयमर्थः–स्वपरपरिच्छित्तिरूपात् फलात् कथञ्चिदपृथग्भूते आत्मनि परिच्छिन्ने तथाभूता तज्जननशक्तिरपि परिच्छिन्नैवेति । नन्वेवं आत्मवर्त्तिनामतीतानागतवर्तमानपर्यायाणामशेषाणामपि द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षत्वात् यथा ज्ञानं स्वसंविदितं एवं तेऽपि स्वसंविदिताः किन्न स्युः ? । किञ्च, यदि द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षत्वात् स्वसंविदिता ज्ञानशक्तिः तदाऽहं घटज्ञानेन घटं जानामि इति करणोल्लेखो न स्यात् । नहि कलशसमाकलनवेलायां द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षत्वेऽपि प्रतिक्षणपरिणामिनामतीतानागतानां च कुशूलकपालादीनामुल्लेखोऽस्ति ।" –स्या. र. पृ० ५३.

पृ० २. पं० १०. **'यतो व्युत्पत्ति'**–"अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन तु अक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते । यदि त्वक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत न मानसादि । यथा गच्छतीति गौरिति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति तथा च गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।" –न्यायवि० टी० १. ३. । स्या. र. पृ० २६०.

पृ० २. पं० ११. **'स्पष्टता'**–

"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥" –लघीय० १. ४.

पृ० २. पं० १५. **'तद्वीन्द्रिया'**–"इदमुक्तं भवति–अपौद्गलिकत्वादमूर्तो जीवः पौद्गलिकत्वात् तु मूर्त्तानि द्रव्येन्द्रियमनांसि, अमूर्त्ताच्च मूर्त्तं पृथग्भूतम्, ततस्तेभ्यः पौद्गलिकेन्द्रियमनोभ्यो यन्मतिश्रुतलक्षणं ज्ञानमुपजायते तद् धूमादेरग्न्यादि ज्ञानवत् परनिमित्तत्वात् परोक्षम् ।" –विशेषा० बृ० गा० ९०.

शुद्धपत्रम् ।

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३	३२	व्यजना-	व्यञ्जना-
५	३२	सम्यग	सम्यग्
६	१६	एते	एते[1]
८	८	-परिच्छिनत्तीत्ति	परिच्छिनत्तीति
८	२४	स्थानीयात्तत्तो	-स्थानीयात्ततो
१०	२०	प्रमाणन्तर-	प्रमाणान्तर-
१२	८	त्रिलक्षणकादिः	त्रिलक्षणकादिः[४]
१२	२७	पर्वतोवह्नि-	पर्वतो वह्नि-
१२	३०	वह्निमाननित्यु-	वह्निमानित्यु-
१३	२७	आत्रा-	अत्रा-
१४	१६	साधने	साधने[3]
१६	१८	-राणा पद-	-राणामुपद-
१९	२९	चतुर्थः	"चतुर्थः
२५	२	-भूतकिया-	-भूतक्रिया-
२५	१७	लघी०	लघी०
२६	२९	-ह्वासेनैका	-ह्वासेऽनैका-
२७	२७	-भ्युगच्छन्	-भ्युपगच्छन्
२८	९	स्थापनाभ्दुप	स्थापनानभ्युप-
२८	३१	दृश्यत	दृश्यते
२९	६	[६०]	[विशेषा० ६०]
३२	६	फलत्वात्	तत्फलत्वात्
३२	८	स्वपरव्यसिति-	स्वपरव्यवसिति-
३२	३०	-स्मदादि प्रत्य-	-स्मदादिप्रत्य-
३३	३२	रश्म्यादि ज्ञान	-रश्म्यादिज्ञान-
३४	१२	इत्यन्तऽर्ज	इत्यन्तर्ज-
३४	१२	-निमित	-निमित्त
३४	२९	अभ्यास पाः	अभ्यासपाट-
३५	२६	व्यञ्चना	व्यञ्जना-
३६	२०	उपधातः	उपघातः
३६	२४	-पधाता-	-पघाता-
३७	२	-पधात-	-पघात-
३७	९	मनोगतम्	मनो गतम्
३८	१८	विकल्प पूर्विका	विकल्पपूर्विका
३८	१८	पाटन क्रिया	पाटनक्रिया
३९	२	व्यजना-	व्यञ्जना-
३९	१८	लब्वि	लब्धि
४०	१२	ग्रहस्यवि-	ग्रहस्य वि-
४०	३०	निश्चियो	निश्चयो
४९	२६	पुलीन्द-	पुलिन्द
५६	२७	२७	२८
५६	३०	शृगं	शृङ्गं
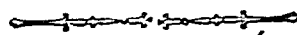
पृ० २. पं० १७. **'किञ्च, असिद्ध'**–"प्रयोगः–यदिन्द्रियमनोनिमित्तं ज्ञानं तत् परोक्षम्, संशयविपर्ययानध्यवसायानां तत्र सम्भवात्, इन्द्रियमनोनिमित्ताऽसिद्धाऽनैकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत् इति प्रथमः प्रयोगः। यदिन्द्रियमनोनिमित्तं ज्ञानं तत् परोक्षम्, तत्र निश्चयसम्भवात्, धूमादेरग्न्याद्यनुमानवत् इति द्वितीयः। ननु निश्चयसम्भवलक्षणो हेतुः अवध्यादिष्वपि वर्तत 5 इत्यनैकान्तिक इति चेत्; नैवम्; अभिप्रायापरिज्ञानात्; सङ्केतस्मरणादिपूर्वको हि निश्चयोऽत्र विवक्षितः; तादृशश्चायं अवध्यादिषु नास्ति ज्ञानविशेषत्वात्तेषाम् इत्यदोषः।"–विशेषा० बृ० गा० ९३.

पृ० २. पं० २१. **'यद्यपि इन्द्रियज'**–"इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि तानि मानसबलाधानसहितानि प्राधान्येन निबन्धनमस्य इति इन्द्रियनिबन्धनम्।" –स्या० र. पृ० ३४४.

पृ० २. पं० २३. **'श्रुतानुसारित्वं'**–"श्रूयते इति श्रुतं द्रव्यश्रुतरूपं शब्द इत्यर्थः, स च 10 सङ्केतविषयपरोपदेशरूपः श्रुतग्रन्थात्मकश्चेह गृह्यते तदनुसारेणैव यदुत्पद्यते तत् श्रुतज्ञानम् नान्यत्। इदमुक्तं भवति–सङ्केतकालप्रवृत्तं श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनं वा घटादिशब्दमनुसृत्य वाच्यवाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्यन्तऽर्जल्पाद्याकारमन्तःशब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादिनिमितं यज्ज्ञानमुदेति तत् श्रुतज्ञानमिति। शेषम् इन्द्रियमनोनिमित्तम् अश्रुतानुसारेण यदवग्रहादिज्ञानं तत् मतिज्ञानम् इत्यर्थः।" –विशेषा० बृ० गा० १००

15 पृ० २. पं० २५. **'नन्वेवम्'**–"अत्राह कश्चित्–ननु यदि शब्दोल्लेखसहितं श्रुतज्ञानमिष्यते शेषं तु मतिज्ञानं तदा वक्ष्यमाणस्वरूपः अवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात् न पुनः ईहापायादयः तेषां शब्दोल्लेखसहितत्वात्, मतिज्ञानभेदत्वेन चैते प्रसिद्धाः, तत्कथं श्रुतज्ञानलक्षणस्य नातिव्याप्तिदोषः?। अपरञ्च, अङ्गानङ्गप्रविष्टादिषु 'अक्खरसन्नी सम्मं, साईयं खलु सपज्जवसियं च' [आव. नि. १९] इत्यादिषु च श्रुतभेदेषु मतिज्ञानभेदस्वरूपाणामवग्रहेहादीनां सद्भावात् सर्वस्यापि तस्य मति- 20 ज्ञानत्वप्रसङ्गात् मतिज्ञानभेदानां चेहापायादीनां साभिलापत्वेन श्रुतज्ञानत्वप्राप्तेः उभयलक्षणसङ्कीर्णतादोषश्च स्यात्। तदयुक्तम्; यतो यद्यपीहादयः साभिलापाः तथापि न तेषां श्रुतरूपता, श्रुतानुसारिण एव साभिलापज्ञानस्य श्रुतत्वात्। अथ अवग्रहादयः श्रुतनिश्रिता एव सिद्धान्ते प्रोक्ताः युक्तितोऽपि चेहादिषु शब्दाभिलापः सङ्केतकालाद्याकर्णितशब्दानुसरणमन्तरेण न सङ्गच्छते, अतः कथं न तेषां श्रुतानुसारित्वम्?। तदयुक्तम्; पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेरेवैते समुपजायन्त 25 इति श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते, न पुनर्व्यवहारकाले श्रुतानुसारित्वमेतेष्वस्ति। सङ्केतकालाद्याकर्णितशब्दपरिकर्मितबुद्धीनां व्यवहारकाले तदनुसरणमन्तरेणापि विकल्पपरम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिदर्शनात्। न हि पूर्वप्रवृत्तसङ्केताः अधीतश्रुतग्रन्थाश्च व्यवहारकाले प्रतिविकल्पन्ते–'एतच्छब्दवाच्यत्वेनैतत् पूर्वं मयाऽवगतम्' इत्येवंरूपं सङ्केतम्, तथा, 'अमुकस्मिन् ग्रन्थे एतदित्थमभिहितम्' इत्येवं श्रुतग्रन्थं चानुसरन्तो दृश्यन्ते, अभ्यास पाटववशात् तदनुसरणमन्तरेणाप्य- 30 नवरतं विकल्पभाषणप्रवृत्तेः। यत्र तु श्रुतानुसारित्वं तत्र श्रुतरूपताऽस्माभिरपि न निषिध्यते। तस्मात् श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतत्वाभावादीहापायधारणानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वात् न मतिज्ञानलक्षणस्याव्याप्तिदोषः, श्रुतरूपतायाश्च श्रुतानुसारिष्वेव साभिलापज्ञानविशेषेषु भावान्न श्रुतज्ञानलक्षणस्यातिव्याप्तिकृतो दोषः। अपरं च, अङ्गानङ्गप्रविष्टादिश्रुतभेदेषु मतिपूर्वमेव श्रुतमिति

वक्ष्यमाणवचनात्, प्रथमं शब्दाद्यवग्रहणकाले अवग्रहादयः समुपजायन्ते। एते च अश्रुतानुसारित्वात् मतिज्ञानम्। यस्तु तेष्वङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतभेदेषु श्रुतानुसारी ज्ञानविशेषः स श्रुतज्ञानम्। ततश्च अङ्गानङ्गप्रविष्टादिश्रुतभेदानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वाभावात्, ईहादिषु च मतिभेदेषु श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतज्ञानत्वासम्भवात् नोभयलक्षणसङ्कीर्णतादोषोऽप्युपपद्यत इति सर्वं सुस्थम्। तस्मादवग्रहापेक्षया अनभिलापत्वात् ईहाद्यपेक्षया तु साभिलापत्वात् साभिलापानभिलापं मतिज्ञानम्, अश्रुतानुसारि च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दस्य व्यवहारकाले अननुसरणात्। श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव श्रुतानुसार्येव च, सङ्केतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा श्रुतस्य व्यवहारकाले अवश्यमनुसरणात् इति स्थितम्।" -विशेषा० वृ० गा० १००.

पृ० ३. पं० ३. 'व्यज्यते'-"तत्र कदम्बकुसुमगोलकाऽऽकारमांसखण्डादिरूपाया अन्तर्निर्वृत्तेः शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतुः य शक्तिविशेषः, स उपकरणेन्द्रियम्, शब्दादिश्च श्रोत्रादीन्द्रियाणां विषयः। आदिशब्दाद् रसगन्धस्पर्शपरिग्रहः तद्भावेन परिणतानि च तानि भाषावर्गणादिसम्बन्धीनि द्रव्याणि च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि। उपकरणेन्द्रियं च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि च, तेषां परस्परं सम्बन्ध उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धः - एष तावद् व्यञ्जनमुच्यते। अपरञ्च, इन्द्रियेणापि अर्थस्य व्यज्यमानत्वात् तदपि व्यञ्जनमुच्यते। तथा, शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरम्बमपि व्यज्यमानत्वात् व्यञ्जनमभिधीयते इति। एवमुपलक्षणव्याख्यानात् त्रितयमपि यथोक्तं व्यञ्जनमवगन्तव्यम्। ततश्च इन्द्रियलक्षणेन व्यञ्जनेन शब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धस्वरूपस्य व्यञ्जनस्यावग्रहो व्यञ्जनावग्रहः, अथवा तेनैव व्यञ्जनेन शब्दादिपरिणतद्रव्यात्मकानां व्यञ्जनानामवग्रहो व्यञ्जनावग्रह इति। उभयत्रापि एकस्य व्यञ्जनशब्दस्य लोपं कृत्वा समासः।" -विशेषा० वृ० गा० १९४.

पृ० ३. पं० ६. 'अथ अज्ञानम्'-"स व्यञ्जनावग्रहोऽज्ञानं-ज्ञानं न भवति, यथा हि बधिरादीनामुपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिविषयद्रव्यैः सह सम्बन्धकाले न किमपि ज्ञानमनुभूयते, अननुभूयमानत्वाच्च तन्नास्ति, तथेहापीति भावः। अत्रोत्तरमाह-यस्य ज्ञानस्यान्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानात् तत एव ज्ञानमुपजायते तज्ज्ञानं दृष्टम्, यथार्थावग्रहपर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानत ईहासद्भावादर्थावग्रहो ज्ञानम्, जायते च व्यञ्जनावग्रहस्य पर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानात् तत एवार्थावग्रहज्ञानम्, तस्माद् व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानम्।" -विशेषा० वृ० गा० १९५.

पृ० ३. पं० ८. "तदेवं व्यञ्जनावग्रहे यद्यपि ज्ञानं नानुभूयते तथापि ज्ञानकारणत्वादसौ ज्ञानम्, इत्येवं व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानाभावमभ्युपगम्योक्तम्। साम्प्रतं ज्ञानाभावोऽपि तत्रासिद्ध एवेति दर्शयन्नाह"-'तत्कालेऽपि'-"तस्य व्यञ्जनसम्बन्धस्य कालेपि तत्रानुपहतेन्द्रियसम्बन्धिनि व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानमस्ति केवलं एकतेजोऽवयवप्रकाशवत् तनु-अतीवाल्पमिति; अतोऽव्यक्तं स्वसंवेदनेनापि न व्यज्यते। बधिरादीनां पुनः स व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानं न भवतीत्यत्राविप्रतिपत्तिरेव, अव्यक्तस्यापि च ज्ञानस्याभावात्।" -विशेषा० वृ० गा० १९६.

"परः सासूयमाह-ननु कथं ज्ञानम्, अव्यक्तं च इत्युच्यते ?, तमःप्रकाशाद्यभिधानवद् विरुद्धत्वाद् नेदं वक्तुं युज्यते इति भावः। अत्रोत्तरम्-सुप्तमत्तमूर्च्छितादीनां सूक्ष्मबोधवदव्यक्तं

ऽनुभूतेन्द्रपर्यायोऽनुभविष्यमाणेन्द्रपर्यायो वा इन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायेऽनुभविष्यमाणघृताधारत्वपर्याये च घृतघटव्यपदेशवत्तत्रेन्द्रशब्दव्यपदेशोपपत्तेः। क्वचिदप्राधान्येऽपि द्रव्यनिःक्षेपः प्रवर्तते, यथाऽङ्गारमर्दको द्रव्याचार्यः, आचार्यगुणरहितत्वात् अप्रधानाचार्य इत्यर्थः। क्वचिदनुपयोगेऽपि, यथाऽनाभोगेनेहपरलोकाद्याशंसालक्षणे 5 नाविधिना च भक्त्यापि क्रियमाणा जिनपूजादिक्रिया द्रव्यक्रियैव, अनुपयुक्तक्रियाया साक्षान्मोक्षाङ्गत्वाभावात्। भक्त्याऽविधिनापि क्रियमाणा सा पारम्पर्येण मोक्षाङ्गत्वापेक्षया द्रव्यतामश्नुते, भक्तिगुणेनाविधिदोषस्य निरनुबन्धीकृतत्वादित्याचार्याः।

§५. विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भावनिःक्षेपः, यथा इन्दनक्रियापरिणतो भावेन्द्र इति।

10 §६. ननु[1] भाववर्जितानां नामादीनां कः प्रतिविशेषस्त्रिष्वपि वृत्त्यविशेषात्?, तथाहि—नाम तावन्नामवति पदार्थे स्थापनायां द्रव्ये चाविशेषेण वर्तते। भावार्थशून्यत्वं स्थापनारूपमपि त्रिष्वपि समानम्, त्रिष्वपि भावस्याभावात्। द्रव्यमपि नामस्थापनाद्रव्येषु वर्तत एव, द्रव्यस्यैव नामस्थापनाकरणात्, द्रव्यस्य द्रव्ये सुतरां वृत्तेश्चेति विरुद्धधर्माध्यासाभावान्नैषां भेदो युक्त इति चेत्; न; अनेन रूपेण विरुद्धधर्माध्यासाभावेऽपि 15 रूपान्तरेण विरुद्धधर्माध्यासात्तद्भेदोपपत्तेः। तथाहि—नामद्रव्याभ्यां[2] स्थापना तावदाकाराभिप्रायबुद्धिक्रियाफलदर्शनाद्भिद्यते, यथा हि स्थापनेन्द्रे लोचनसहस्राद्याकारः, स्थापनाकर्तुश्च सद्भूतेन्द्राभिप्रायो, द्रष्टुश्च तदाकारदर्शनादिन्द्रबुद्धिः, भक्तिपरिणतबुद्धीनां नमस्करणादिक्रिया, तत्फलं च पुत्रोत्पत्त्यादिकं संवीक्ष्यते, न तथा नामेन्द्रे द्रव्येन्द्रे चेति ताभ्यां तस्य भेदः। द्रव्यमपि[3] भावपरिणामिकारणत्वान्नामस्थापनाभ्यां 20 भिद्यते, यथा ह्यनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यम्, उपयुक्तत्वकाले उपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, यथा वा साधुजीवो द्रव्येन्द्रः सद्भावेन्द्ररूपायाः परिणतेः, न तथा नामस्थापनेन्द्राविति। नामापि स्थापनाद्रव्याभ्यामुक्तवैधर्म्यादेव भिद्यत इति। दुग्धतक्रादीनां श्वेतत्वादिनाऽभेदेऽपि माधुर्यादिना भेदवन्नामादीनां केनचिद्रूपेणाभेदेऽपि रूपान्तरेण भेद इति स्थितम्।

25 §७. ननु[4] भाव एव वस्तु, किं तदर्थशून्यैर्नामादिभिरिति चेत्; न; नामादीनामपि वस्तुपर्यायत्वेन सामान्यतो भावत्वानतिक्रमात्, अविशिष्टे इन्द्रवस्तुन्युच्चरिते नामादिभेदचतुष्टयपरामर्शनात्[5] प्रकरणादिनैव विशेषपर्यवसानात्। भावाङ्गत्वेनैव[6] वा नामादीनामुपयोगः जिननामजिनस्थापनापरिनिर्वृतमुनिदेहदर्शनाद्भावोल्लासानुभवात्। केवलं नामादित्रयं भावोल्लासेनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणमिति ऐकान्तिकात्य-

---

१ तुलना–विशेषा० गा० ५२। २ तुलना–विशेषा० गा० ५३। ३ तुलना–विशेषा० गा० ५४। ४ तुलना–विशेषा० गा० ५५। ५ ०परामर्शदर्शनात्–सं०। ६ तुलना–विशेषा० गा० ५६–५८।

ज्ञानमुच्यते इति न दोषः । सुप्तादयः स्वयमपि तदात्मीयविज्ञानं नावबुध्यन्ते—न संवेदयन्ति, अतिसूक्ष्मत्वात् ।" –विशेषा० बृ० गा० १९७.

"तर्हि तत् तेषामस्तीति एतत् कथं लक्ष्यते ?, इत्याह—सुप्तादयोऽपि हि स्वप्नायमानाद्यवस्थायां केचित् किमपि भाषमाणा दृश्यन्ते, शब्दिताश्चौघतो वाचं प्रयच्छन्ति, सङ्कोच-विकोचा-
5 ऽङ्गभङ्ग-जृम्भित-कूजित-कण्डूयनादिचेष्टाश्च कुर्वन्ति, न च तास्ते तदा वेदयन्ते, नापि च प्रबुद्धाः स्मरन्ति । तर्हि कथं तच्चेष्टाभ्यस्तेषां ज्ञानमस्ति इति लक्ष्यते ? । यस्मात्कारणात् नाऽमतिपूर्वास्ता वचनादिचेष्टा विद्यन्ते, किन्तु मतिपूर्विका एव, अन्यथा काष्ठादीनामपि तत्प्रसङ्गात्" –विशेषा० बृ० गा० १९८.

पृ० ३. पं० १२. **'स च नयन'**—"इदमुक्तं भवति—विषयस्य, इन्द्रियस्य च यः परस्परं
10 सम्बन्धः प्रथममुपश्लेषमात्रम्, तद्व्यञ्जनावग्रहस्य विषयः । स च विषयेण सहोपश्लेषः प्राप्यकारिष्वेव स्पर्शन-रसन-घ्राण-श्रोत्रलक्षणेषु चतुरिन्द्रियेषु भवति, न तु नयनमनसोः । अतस्ते वर्जयित्वा शेषस्पर्शनादीन्द्रियचतुष्टयभेदाच्चतुर्विध एव, व्यञ्जनावग्रहो भवति ।

कुतः पुनरेतान्येव प्राप्यकारीणि ?, इत्याह—उपघातश्चानुग्रहश्चोपघातानुग्रहौ तयोर्दर्शनात्—कर्कशकम्बलादिस्पर्शने त्वक्क्षणनाद्युपघातदर्शनात्, चन्दनाङ्गनाहंसतूलादिस्पर्शने तु शैत्याद्यनुग्रह-
15 दर्शनात् । नयनस्य तु निशितकरपत्र-सेल्ल-भल्लादिवीक्षणेऽपि पाटनाद्युपघातानवलोकनात्, चन्दनागुरुकर्पूराद्यवलोकनेऽपि शैत्याद्यनुग्रहाननुभवात्; मनसस्तु वह्न्यादिचिन्तनेपि दाहाद्युपघातादर्शनात्, जलचन्दनादिचिन्तायामपि च पिपासोपशमाद्यनुग्रहासम्भवाच्च ।" –विशेषा० बृ० गा० २०४.

पृ० ३. पं० १४. **'रविचन्द्र'**—"अथ परो हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह — जल-घृत-नीलवसन-वनस्पतीन्दुमण्डलाद्यवलोकनेन नयनस्य परमाश्वासलक्षणोऽनुग्रहः समीक्ष्यते; सूर-सितभित्त्यादि-
20 दर्शने तु जलविगलनादिरूप उपघातः सन्दृश्यते ।" –विशेषा० बृ० २०९.

पृ० ३. पं० १४. **'न; प्रथमाव'**—"नैतदेवम्—अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्, यतः प्रथमत एव विषयपरिच्छेदमात्रकालेऽनुग्रहोपघातशून्यता हेतुत्वेनोक्ता, पश्चात्तु चिरमवलोकयतः प्रतिपत्तुः प्राप्तेन रविकरादिना, चन्द्रमरीचि-नीलादिना वा मूर्त्तिमता निसर्गत एव केनाप्युपघातकेन, अनुग्राहकेण च विषयेणोपघातानुग्रहौ भवेतामपि इति ।" –विशेषा० बृ० २११.

25 "नहि वयमेतद् ब्रूमो यदुत चक्षुषः कुतोऽपि वस्तुनः सकाशात् कदाचित् सर्वथैव अनुग्रहोपघातौ न भवतः । ततो रविकरादिना दाहाद्यात्मकेन उपघातवस्तुना परिच्छेदानन्तरं पश्चाच्चिरमवलोकयतः प्रतिपत्तुः चक्षुः प्राप्य—समासाद्य स्पर्शनेन्द्रियमिव दह्येत तथा यत् स्वरूपेणैव सौम्यं शीतलं शीतरश्मि वा जलघृतचन्द्रादिकं वस्तु तस्मिंश्चिरमवलोकिते उपघाताभावादनुग्रहमिव मन्येत चक्षुः को दोषः ? ।" –विशेषा० बृ० गा० २१०.

30 पृ० ३. पं० १७. **'मृतनष्ट'**—"यः शोकाद्यतिशयात् देहापचयरूपः, आर्त्तादिध्यानातिशयाद् हृद्रोगादिस्वरूपश्चोपघातः, यश्च पुत्रजन्माद्यभीष्टप्राप्तिचिन्तासमुद्भूतहर्षादिरनुग्रहः, स जीवस्य भव-

न्तिकस्य भावस्याभ्यर्हितत्वमनुमन्यन्ते[1] प्रवचनवृद्धाः[2]। एतच्च भिन्नवस्तुगतनामाद्य-
पेक्षयोक्तम्। अभिन्नवस्तुगतानां तु नामादीनां भावाविनाभूतत्वादेव वस्तुत्वम्, सर्वस्य
वस्तुनः स्वाभिधानस्य नामरूपत्वात्, स्वाकारस्य स्थापनारूपत्वात्, कारणतायाश्च
द्रव्यरूपत्वात्, कार्यापन्नस्य च स्वस्य भावरूपत्वात्[3]। यदि च घटनाम घटधर्मो न
भवेत्तदा ततस्तत्संप्रत्ययो न स्यात्, तस्य स्वापृथग्भूतसंबन्धनिमित्तकत्वादिति सर्वं नामा- 5
त्मकमेष्टव्यम्। साकारं च सर्वं मति-शब्द-घटादीनामाकारवत्त्वात्[4], नीलाकारसंस्थान-
विशेषादीनामाकाराणामनुभवसिद्धत्वात्[5]। द्रव्यात्मकं च सर्वं उत्फणविफणकुण्डलिताका-
रसमन्वितसर्पवत् विकाररहितस्याविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामस्य द्रव्यस्यैव सर्वत्र सर्व-
दानुभवात्[6]। भावात्मकं च सर्वं परापरकार्यक्षणसन्तानात्मकस्यैव तस्यानुभवादिति
चतुष्टयात्मकं जगदिति नामादिनयसमुदयवादः[7]। 10

[२. निःक्षेपाणां नयेषु योजना ।]

§ ८. अथ नामादिनिक्षेपा नयैः सह योज्यन्ते। तत्र नामादित्रयं द्रव्यास्तिक-
नयस्यैवाभिमतम्, पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव। आद्यस्य भेदौ संग्रहव्यवहारौ,
नैगमस्य यथाक्रमं सामान्यग्राहिणो विशेषग्राहिणश्च अनयोरेवान्तर्भावात्। ऋजुसूत्रा-
दयश्च चत्वारो द्वितीयस्य भेदा इत्याचार्यसिद्धसेनमतानुसारेणाभिहितं जिनभद्रग- 15
णिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः–

"नामाइतियं दव्वट्ठियस्य भावो अ पज्जवणयस्स ।
संगहववहारा पढमगस्स सेसा उ इयरस्स ॥" [७५]

इत्यादिना विशेषावश्यके। स्वमते तु नमस्कारनिक्षेपविचारस्थले–

"भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" [२८४७] 20

इति वचसा त्रयोऽपि शब्दनयाः शुद्धत्वाद्भावमेवेच्छन्ति ऋजुसूत्रादयस्तु चत्वा-
रश्चतुरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वादित्युक्तम्[8]। ऋजुसूत्रो नामभाव-
निक्षेपावेवेच्छतीत्यन्ये; तत्र(तन्न); ऋजुसूत्रेण द्रव्याभ्युपगमस्य[9] सूत्राभिहि-
तत्वात्, पृथक्त्वाभ्युपगमस्य परं निषेधात्। तथा च सूत्रम्—**"उज्जुसुअस्स**
एगे अणुवउत्ते आगमओ एगं दव्वावस्सयं, पुहत्तं नेच्छइ त्ति" [अनुयो० 25
सू० १४]। कथं चायं पिण्डावस्थायां सुवर्णादिद्रव्यमनाकारं भविष्यत्कुण्डलादि-
पर्यायलक्षणभावहेतुत्वेनाभ्युगच्छन् विशिष्टेन्द्राद्यभिलापहेतुभूतां साकारामिन्द्रादिस्था
पनां नेच्छेत्?, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति। किञ्च, इन्द्रादिसञ्ज्ञामात्रं तदर्थरहित-
मिन्द्रादिशब्दवाच्यं वा नामेच्छन् अयं भावकारणत्वाविशेषात् कुतो नामस्थापने

---

१ –०मन्यन्ते च प्रव०–प्र०। २ विशेषा० गा० ५९। ३ तुलना–विशेषा० ६०। ४–०माकारत्वान्नी०–प्र०। ५ तुलना–विशेषा० गा० ६६–६८। ६ तुलना–विशेषा० गा० ६९–७१। ७ तुलना–विशेषा० गा० ७२, ७३। ८ तुलना–विशेषा० गा० २८४८। ९ द्रव्याभ्युपगतस्य–सं०। १० तुलना–विशेषा० गा० २८४९।

न्नपि चिन्त्यमानविषयात् मनसः किल परो मन्यते, तस्य जीवात् कथञ्चिदव्यतिरिक्तत्वात्। ततश्चैवं मनसोऽनुग्रहोपघातयुक्तत्वात् तच्छून्यत्वलक्षणो हेतुरसिद्धः।" -विशेषा० वृ० गा० २१९.

"तदेतत्सर्वं परस्याऽसम्बद्धभाषितमिवेति दर्शयन्नाह–मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गलनिचयरूपं द्रव्यमनः अनिष्टचिन्ताप्रवर्त्तनेन जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्त्या ह्लन्निरुद्धवायुवद् उपघातं जनयति, तदेव च शुभपुद्गलपिण्डरूपं तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिर्वृत्त्या भेषजवदनुग्रहं विधत्त 5 इति। अतो जीवस्यैतौ अनुग्रहोपघातौ द्रव्यमनः करोति।" -विशेषा० वृ० गा० २२०.

पृ० ३. पं० २०. **'ननु यदि'**–"ननु जाग्रदवस्थायां मा भूद् मनसो विषयप्राप्तिः, स्वापावस्थायां तु भवत्वसौ अनुभवसिद्धत्वात्, तथाहि 'अमुत्र मेरुशिखरादिगतजिनायतनादौ मदीयं मनोगतम्' इति सुप्तैः स्वप्नेऽनुभूयत एव इत्याशङ्क्य स्वप्नेऽपि मनसः प्राप्यकारितामपाकर्तुमाह–इह 'मदीयं मनोऽमुत्र गतम्' इत्यादिरूपो यः सुप्तैरुपलभ्यते स्वप्नः, स यथोपलभ्यते न 10 तथारूप एव, तदुपलब्धस्य मनोमेरुगमनादिकस्यार्थस्यासत्यत्वात्। कथम्?। यथा कदाचिदात्मीयं मनः स्वप्ने मेर्वादौ गतं कश्चित् पश्यति, तथा कोऽपि शरीरमात्मानमपि नन्दनतरुकुसुमावचयादि कुर्वन्तं तद्गतं पश्यति, न च तत् तथैव, इह स्थितैः सुप्तस्य तस्याऽत्रैव दर्शनात्, द्वयोश्चात्मनोरसम्भवात्, कुसुमपरिमलाद्यध्वजनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपघाताभावाच्च। -विशेषा० वृ० गा० २२४. 15

पृ० ३. पं० २३. **'ननु स्वप्नानु'**–"अत्र विबुद्धस्य सतस्तद्गतानुग्रहोपघातानुपलम्भादित्यस्य हेतोरसिद्धतोद्भावनार्थं परः प्राह–इह कस्यचित्पुरुषस्य स्वप्नोपलम्भानन्तरं विबुद्धस्य सतः स्फुटं दृश्यन्ते हर्षविषादादयः। तत्र–

'स्वप्ने दृष्टो मयाद्य त्रिभुवनमहितः पार्श्वनाथः शिशुत्वे
द्वात्रिंशद्भिः सुरेन्द्रैरहमहमिकया स्नाप्यमानः सुमेरौ। 20
तस्माद् मत्तोऽपि धन्यं नयनयुगमिदं येन साक्षात् स दृष्टो
द्रष्टव्यो यो महीयान् परिहरति भयं देहिनां संस्मृतोऽपि॥'

इत्यादिस्वप्नानुभूतसुखरागलिङ्गं हर्षः, तथा–

'प्राकारत्रयतुङ्गतोरणमणिप्रेङ्खत्प्रभाव्याहताः
नष्टाः क्वापि रवेः करा द्रुततरं यस्यां प्रचण्डा अपि। 25
तां त्रैलोक्यगुरोः सुरेश्वरवतीमास्थायिकामेदिनीं
हा! यावत् प्रविशामि तावदधमा निद्रा क्षयं मे गता॥'

इत्यादिकः स्वप्नानुभूतदुःखद्वेषलिङ्गं विषादः इति विबुद्धस्यानुग्रहोपघातानुपलम्भात् इत्यसिद्धो हेतुः।" -विशेषा० वृ० गा० २२३.

पृ० ३. पं० २४. **'दृश्येताम्'** "अत्रोत्तरमाह–स्वप्ने भुक्तानुभवादिविषयं विज्ञानं स्वप्न- 30 विज्ञानं तस्मादुत्पद्यमाना हर्षविषादादयो न विरुद्ध्यन्ते – न तान् वयं निवारयामः जाग्रदवस्थाविज्ञानहर्षादिवत्, तथाहि–दृश्यन्ते जाग्रदवस्थायां केचित् स्वयमनुप्रेक्षितस्नानपानादिज्ञानात्

नेच्छेत् ?[1] । प्रत्युत सुतरां तदभ्युपगमो न्याय्यः । इन्द्रमूर्तिलक्षणद्रव्य-विशिष्टतदाकाररूपस्थापनयोरिन्द्रपर्यायरूपे भावे तादात्म्यसंबन्धेनावस्थितत्वात्तत्र वाच्यवाचकभावसंबन्धेन संबद्धान्नाम्नोऽपेक्षया सन्निहिततरकारणत्वात् । सङ्ग्रहव्यवहारौ स्थापनावर्जांस्त्रीन्निक्षेपानिच्छत इति केचित्; तन्नानवद्यं यतः संग्रहिकोऽसंग्रहिको[2]ऽनर्पितभेदः परि-
5 पूर्णो वा नैगमस्तावत् स्थापनामिच्छतीत्यवश्यमभ्युपेयम् , सङ्ग्रहव्यवहारयोरन्यत्र द्रव्यार्थिके स्थापनाभ्युपगमावर्जनात् । तत्राद्यपक्षे संग्रहे स्थापनाभ्युपगमप्रसङ्गः, संग्रहनयमतस्य संग्रहिक[3]नैगममताविशेषात् । द्वितीये व्यवहारे तदभ्युपगमप्रसङ्गः, तन्मतस्य व्यवहारमतादविशेषात् । तृतीये च निरपेक्षयोः संग्रहव्यवहारयोः स्थापनाभ्युपगमोपपत्तावपि समुदितयोः संपूर्णनैगमरूपत्वात्तदभ्युपगमस्य दुर्निवारत्वम्,
10 अविभागस्थान्नैगमात्प्रत्येकं तदेकैकभागग्रहणात् । किञ्च, सङ्ग्रहव्यवहारयोर्नैगमान्तर्भावात्स्थापनाभ्युपगमलक्षणं तन्मतमपि तत्रान्तर्भूतमेव, उभयधर्मलक्षणस्य विषयस्य प्रत्येकमप्रवेशेऽपि स्थापनालक्षणस्यैकधर्मस्य प्रवेशस्य सूपपादत्वात्, [4]स्थापनासामान्यतद्विशेषाभ्युपगममात्रेणैव सङ्ग्रहव्यवहारयोर्भेदोपपत्तेरिति यथागमं भावनीयम् । एतैश्च नामादिनिक्षेपैर्जीवादयः पदार्था निक्षेप्याः ।

15 [३. जीवविषये निःक्षेपाः ।]

§ ९. तत्र यद्यपि यस्य जीवस्याजीवस्य वा जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः, देवतादिप्रतिमा च स्थापनाजीवः, औपशमिकादिभावशाली च भावजीव इति जीवविषयं निक्षेपत्रयं सम्भवति, न तु द्रव्यनिक्षेपः । अयं हि तदा सम्भवेत्, यद्यजीवः सन्नायत्यां जीवोऽभविष्यत्, यथाऽदेवः सन्नायत्यां देवो भविष्यत्(न्) द्रव्यदेव
20 इति । न चैतदिष्टं सिद्धान्ते, यतो जीवत्वमनादिनिधनः पारिणामिको भाव इष्यत इति । तथापि गुणपर्यायवियुक्तत्वेन बुद्ध्या कल्पितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो द्रव्यजीवः, शून्योऽयं भङ्ग इति यावत्, सतां गुणपर्यायाणां बुद्ध्यापनयस्य कर्तुमशक्यत्वात् । न खलु ज्ञानायत्तार्थपरिणतिः, किन्तु अर्थो यथा यथा विपरिणमते तथा तथा ज्ञानं प्रादुरस्तीति । न चैवं नामादिचतुष्टयस्य व्यापिताभङ्गः, यतः
25 प्रायः सर्वपदार्थेष्वन्येषु तत् सम्भवति । यद्यत्रैकस्मिन्न सम्भवति नैतावता भवत्यव्यापितेति वृद्धाः । जीवशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्यजीव इत्यप्याहुः । अपरे तु वदन्ति—अहमेव मनुष्यजीवो [द्रव्यजीवो]ऽभिधा[5]तव्यः उत्तरं देवजीवमप्रादुर्भूतमाश्रित्य अहं हि तस्योत्पित्सोर्देवजीवस्य कारणं भवामि, यतश्चाहमेव तेन देवजीवभावेन भविष्यामि, अतोऽहमधुना द्रव्यजीव इति । एतत्कथितं तैर्भवति—पूर्वः पूर्वो जीवः

---

१ तुलना–विशेषा० बृ० गा० २८४७ । २–०ऽसङ्ग्राहिको–प्र० व० । ३ सङ्ग्राहिके नैग०–सं० । ४ तुलना–विशेषा० गा० २८५५ । ५ व० प्रतौ प्रथमलिखितं 'मनुष्यजीवो द्रव्यजीवोऽभि०' इति पाठं परिमार्ज्य 'मनुष्यजीवोऽभि०–' इत्यादि कृतं दृश्यते ।

तृप्यन्तः, द्विषन्तो वा, ततश्च दृष्टस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् स्वप्नविज्ञानादपि नैतन्निषेधं ब्रूमः। तर्हि किमुच्यते भवद्भिः ?। क्रिया - भोजनादिका तस्याः फलं तृप्त्यादिकं तत्पुनः स्वप्नविज्ञानाद् नास्त्येव, इति ब्रूमः । यदि ह्येतत् तृप्त्यादिकं भोजनादिक्रियाफलं स्वप्नविज्ञानाद् भवेत् तदा विषयप्राप्तिरूपा प्राप्यकारिता मनसो युज्येत, न चैतदस्ति, तथोपलम्भस्यैवाभावात्।"
5 –विशेषा० बृ० गा. २२७.

पृ० ३. पं० २६. 'क्रियाफलमपि स्वप्ने'-"क्रियाफलं जाग्रदवस्थायामपि परो दर्शयन्नाह - यत्र व्यञ्जन(शुक्र)विसर्गः तत्र योषित्संगमेनापि भवितव्यम्, यथा वासभवनादौ, तथा च स्वप्ने, ततोऽत्रापि योषित्प्राप्त्या भवितव्यम् इति कथं न प्राप्यकारिता मनसः ?।" –विशेषा० बृ० गा० २२८.

"अथ योषित्संगमे साध्ये व्यञ्जनविसर्गहेतोरनैकान्तिकतामुपदर्शयन्नाह—स्वप्ने योऽसौ व्यञ्ज-
10 नविसर्गः स तत्प्राप्तिमन्तरेणापि 'तां कामिनीमहं परिषजामि' इत्यादिस्वयमुत्प्रेक्षिततीव्राध्यवसायकृतो वेदितव्यः। जाग्रतोपि तीव्रमोहस्य प्रबलवेदोदययुक्तस्य कामिनीं स्मरतः दृढं ध्यायतः प्रत्यक्षामिव पश्यतो बुद्ध्या परिषजतः परिभुक्तामिव मन्यमानस्य यत् तीव्राध्यवसानं तस्मात् यथा व्यञ्जनविसर्गो भवति तथा स्वप्नेपि, अन्यथा तत्क्षण एव प्रबुद्धः सन्निहितां प्रियतमामुपलभेत तत्कृतानि च स्वप्नोपलब्धानि नखदन्तपदादीनि पश्येत् न चैवम्।" –विशेषा० बृ० गा० २२९.

15 पृ० ३. पं० २७. 'ननु स्त्यानर्धि'-"ननु स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये वर्त्तमानस्य द्विरददन्तोत्पाटनादिप्रवृत्तस्य स्वप्ने मनसः प्राप्यकारिता तत्पूर्वको व्यञ्जनावग्रहश्च सिद्ध्यति, तथाहि स तस्यामवस्थायां 'द्विरददन्तोत्पाटनादिकं सर्वमिदमहं स्वप्ने पश्यामि' इति मन्यते इत्ययं स्वप्नः, मनोविकल्प पूर्विकां च दशनाद्युत्पाटन क्रियामसौ करोति इति मनसः प्राप्यकारिता तत्पूर्वकश्च मनसो व्यञ्जनावग्रहो भवत्येव इत्याशङ्क्याह—स्त्यानगृद्धिनिद्रोदये पुनर्वर्त्तमानस्य जन्तोः मांस-
20 भक्षण-दशनोत्पाटनादि कुर्वतो गाढनिद्रोदयपरवशीभूतत्वेन स्वप्नमिव मन्यमानस्य स्यात् व्यञ्जनावग्रहः, न वयं तत्र निषेद्धारः। सिद्धं तर्हि परस्य समीहितम्; सिद्ध्येत् यदि सा व्यञ्जनावग्रहता मनसो भवेत्। न पुनः सा तस्य। कस्य तर्हि सा ?। सा खलु प्राप्यकारिणां श्रवणरसनघ्राणस्पर्शनानाम् । इदमुक्तं भवति—स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये प्रेक्षणकरङ्गभूम्यादौ गीतादिकं शृण्वतः श्रोत्रेन्द्रियस्य व्यञ्जनावग्रहो भवति।" –विशेषा० बृ० गा० २३४.

25 पृ० ३. पं० २९. 'ननु च्यवमानो न जानाति'-"यस्मात् कारणात् 'च्यवमानो न जानाति',इत्यादिवचनात् सर्वोपि छद्मस्थोपयोगोऽसङ्ख्येयैः समयैर्निर्दिष्टः सिद्धान्ते न तु एकद्व्यादिभिः। यस्माच्च तेषु उपयोगसम्बन्धिषु असङ्ख्येयेषु समयेषु सर्वेष्वपि प्रत्येकमनन्तानि मनोद्रव्याणि मनोवर्गणाभ्यो गृह्णाति जीवः, द्रव्याणि च तत्सम्बन्धो वा प्रागत्रैव भवद्भिर्व्यञ्जनमुक्तम्। तेन कारणेन तत् तादृशं द्रव्यं तत्सम्बन्धो वा व्यञ्जनावग्रह इति युज्यते मनसः। यथाहि—श्रोत्रा-
30 दीन्द्रियेण असङ्ख्येयान् समयान् यावद् गृह्यमाणानि शब्दादिपरिणतद्रव्याणि, तत्सम्बन्धो वा व्यञ्जनावग्रहः तथाऽत्रापि।" विशेषा० बृ० गा २३७-८.

"तदेवं विषयासंप्राप्तावपि भङ्ग्यन्तरेण मनसो व्यञ्जनावग्रहः किल परेण समर्थितः साम्प्रतं विषयसंप्राप्त्यापि तस्य तं समर्थयन्नाह—शरीराद् अनिर्गतस्यापि मेर्वाद्यर्थमगतस्यापि स्वस्थान-

परस्य परस्योत्पित्सोः कारणमिति । अस्मिंश्च पक्षे सिद्ध एव भावजीवो भवति, नान्य इति-एतदपि नानवद्यमिति तत्त्वार्थटीकाकृतः[१] ।

§ १०. इदं पुनरिहावधेयं-इत्थं संसारिजीवे द्रव्यत्वेऽपि भावत्वाविरोधः, एकवस्तुगतानां नामादीनां भावाविनाभूतत्वप्रतिपादनात् । तदाह भाष्यकारः-

"अहवा वत्थूभिहाणं, नामं ठवणा य जो तयागारो ।
कारणया से दव्वं, कज्जावन्नं तयं भावो ॥१॥" [६०]

इति । केवलमविशिष्टजीवापेक्षया द्रव्यजीवत्वव्यवहार एव न स्यात्, मनुष्यादेर्देवत्वादिविशिष्टजीवं प्रत्येव हेतुत्वादिति, अधिकं नयरहस्यादौ विवेचितमस्माभिः ॥

॥ इति महामहोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंसपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना विरचितायां जैनतर्कभाषायां निक्षेपपरिच्छेदः संपूर्णः, तत्संपूर्त्तौ च संपूर्णेयं जैनतर्कभाषा ॥

॥ स्वस्तिश्रीश्रमणसङ्घाय ॥

स्थितस्यापि स्वकाये स्वकायस्य वा हृदयादिकमतीव सन्निहितत्वादतिसम्बद्धं विचिन्तयतो मनसो योऽसौ ज्ञेयेन स्वकायस्थितहृदयादिना सम्बन्धः तत्प्राप्तिलक्षणः तस्मिन्नपि ज्ञेयसन्धे व्यजनावग्रहः मनसः" युज्यत एव । -विशेषा० वृ० गा० २३९.

पृ० ४ पं० १. 'इति चेत्; शृणु'—"तदेवं प्रकारद्वयेन मनसः परेण व्यञ्जनावग्रहे समर्थिते आचार्यः प्रथमपक्षे तावत् प्रतिविधानमाह—चिन्ताद्रव्यरूपं मनो न ग्राह्यम्, किन्तु गृह्यते अवगम्यते शब्दादिरर्थोऽनेन इति ग्रहणम् अर्थपरिच्छेदे करणम् इत्यर्थः । ग्राह्यं तु मेरुशिखरादिकं मनसः सुप्रतीतमेव अतः कोऽवसरः तस्य करणभूतस्य मनोद्रव्यराशेः व्यञ्जनावग्रहे अधिकृते ? । न कोपि इत्यर्थः । ग्राह्यवस्तुग्रहणे हि व्यञ्जनावग्रहो भवति । न च मनोद्रव्याणि ग्राह्यरूपतया गृह्यन्ते ।" -विशेषा० वृ० गा० २४०.

"या च मनसः प्राप्यकारिता प्रोक्ता सापि न युक्ता; स्वकायहृदयादिको हि मनसः स्वदेश एव । यच्च यस्मिन् देशेऽवतिष्ठते तत् तेन सम्बद्धमेव भवति कस्तत्र विवादः ? । किं हि नाम तद्वस्त्वस्ति यदात्मदेशेनाऽसम्बद्धम् ? । एवं हि प्राप्यकारितायामिष्यमाणायां सर्वमपि ज्ञानं प्राप्यकार्येव, पारिशेष्याद् बाह्यार्थापेक्षयैव प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्वचिन्ता युक्ता ।" -विशेषा० वृ० गा० २४१.

पृ० ४. पं० ४. 'क्षयोपशमपाटवेन'—"भवतु वा मनसः स्वकीयहृदयादिचिन्तायां प्राप्यकारिता तथापि न तस्य व्यञ्जनावग्रहसंभवः इति दर्शयन्नाह—यस्मात् मनसः प्रथमसमय एव अर्थावग्रहः समुत्पद्यते न तु श्रोत्रादीन्द्रियस्येव प्रथमं व्यञ्जनावग्रहः, तस्य हि क्षयोपशमापाटवेन प्रथममर्थानुपलब्धिकालसम्भवात् युक्तो व्यञ्जनावग्रहः, मनसस्तु पटुक्षयोपशमत्वात् चक्षुरादीन्द्रियस्येव अर्थानुपलम्भकालस्यासंभवेन प्रथममेव अर्थावग्रह एव उपजायते । अत्र प्रयोगः—इह यस्य ज्ञेयसंबन्धे सत्यप्यनुपलब्धिकालो नास्ति न तस्य व्यञ्जनावग्रहो दृष्टः, यथा चक्षुषः, नास्ति चार्थ संबन्धे सत्यनुपलब्धिकालो मनसः, तस्माद् न तस्य व्यञ्जनावग्रहः, यत्र तु अयमभ्युपगम्यते न तस्य ज्ञेयसंबन्धे सत्यनुपलब्धिकालासंभवः, यथा श्रोत्रस्येति व्यतिरेकः । तस्मादुक्तप्रकारेण मनसो न व्यञ्जनावग्रहसम्भवः ।" -विशेषा० वृ० गा० २४१.

पृ० ४. पं० ४. 'श्रोत्रादीन्द्रिय'—"इदमुक्तं भवति—न केवलं मनसः केवलावस्थायां प्रथमम् अर्थावग्रह एव व्यापारः, किन्तु श्रोत्रादीन्द्रियोपयोगकालेपि तथैव, तथाहि—श्रोत्रादीन्द्रियोपयोगकाले व्याप्रियते मनः केवलमर्थावग्रहादेव आरभ्य, न तु व्यञ्जनावग्रहकाले । अर्थानवबोधस्वरूपो हि व्यञ्जनावग्रहः तदवबोधकारणमात्रत्वात् तस्य, मनस्तु अर्थाववोधरूपमेव 'मनुतेऽर्थान् मन्यन्ते अर्था अनेन इति वा मनः' इति सान्वर्थाभिधानाऽभिधेयत्वात् । किञ्च, यदि व्यञ्जनावग्रहकाले मनसो व्यापारः स्यात् तदा तस्यापि व्यञ्जनावग्रहसद्भावादष्टाविंशतिभेदभिन्नता मतेर्विशीर्येत, तस्मात् प्रथमसमयादेव तस्यार्थग्रहणमेष्टव्यम् । यथा हि स्वाभिधेयानर्थान् भाष्यमाणैव भाषा भवति, नान्यथा; यथा च स्वविषयभूतानर्थानवबुध्यमानान्येवावध्यादिज्ञानान्यात्मलाभं लभन्ते, अन्यथा तेषामप्रवृत्तिरेव स्यादिति, एवं स्वविषयभूतानर्थान् प्रथमसमयादा-

रभ्य मन्वानमेव मनो भवति, अन्यथा अवध्यादिवत् तस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात्। तस्मात् तस्यानुपलब्धिकालो नास्ति, तथा च न व्यञ्जनावग्रह इति स्थितम्।" –विशेषा० बृ० गा० २४२,२४३.

पृ० ४. पं० ९. 'स्वरूप'–"ग्राह्यवस्तुनः सामान्य-विशेषात्मकत्वे सत्यप्यर्थावग्रहेण सामान्यरूपमेवार्थं गृह्णाति, न विशेषरूपम् अर्थावग्रहस्यैकसामयिकत्वात्, समयेन च विशेष-
5 ग्रहणायोगादिति । सामान्यार्थश्च कश्चिद् ग्राम-नगर-वन-सेनादिशब्देन निर्देश्योऽपि भवति तद्व्यवच्छेदार्थमाह–स्वरूपनामादिकल्पनारहितम्, आदिशब्दात् जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यपरिग्रहः। तत्र रूपरसाद्यर्थानां य आत्मीयचक्षुरादीन्द्रियगम्यः प्रतिनियतः स्वभावः तत् स्वरूपम् । रूपरसादिकस्तु तदभिधायको ध्वनिर्नाम । रूपत्व-रसत्वादिका तु जातिः । प्रीतिकरमिदं रूपं पुष्टिकरोऽयं रसः इत्यादिकस्तु शब्दः क्रियाप्रधानत्वात् क्रिया । कृष्ण-नीलादिकस्तु गुणः । पृथि-
10 व्यादिकं पुनर्द्रव्यम्। एषां स्वरूप-नाम-जात्यादीनां कल्पना अन्तर्जल्पारूषितज्ञानरूपा, तया रहितमेवार्थमर्थावग्रहेण गृह्णाति जीवः।" –विशेषा० बृ० गा० २५२.

पृ० ४. पं० १०. 'कथं तर्हि' "यदि स्वरूपनामादिकल्पनारहितोऽर्थोऽर्थावग्रहस्यविषयः इत्येवं व्याख्यायते भवद्भिः तर्हि यन्नन्द्यध्ययनसूत्रे (सू० ३६.) प्रोक्तम्–'से जहा नामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा तेणं सद्देत्ति उग्गहिए न उण जाणइ के वेस सद्दाइ त्ति' तदेतत् कथमविरोधेन नीयते?।
15 अस्मिन्नन्दिसूत्रे अयमर्थः प्रतीयते–यथा तेन प्रतिपत्त्रा अर्थावग्रहेण शब्दोऽवगृहीतः इति । भवन्तस्तु शब्दाद्युल्लेखरहितं सर्वथाऽमुं प्रतिपादयन्ति ततः कथं न विरोधः?।" –विशेषा० बृ० गा०२५२.

पृ० ४. पं० ११. 'शब्दः' इति'–"अत्रोत्तरमाह–'शब्दस्तेन अवगृहीतः' इति यदुक्तं तत्र 'शब्दः' इति सूत्रकारः प्रतिपादयति । अथवा शब्दमात्रं रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्या अनवधारितत्वात् शब्दतयाऽनिश्चितं गृह्णाति इति एतावतांशेन 'शब्दस्तेन अवगृहीतः' इत्युच्यते न पुनः
20 शब्दबुद्ध्या 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायेन तच्छब्दवस्तु तेन अवगृहीतम्, शब्दोल्लेखस्य आन्तर्मुहूर्त्तिकत्वात्, अर्थावग्रहस्य तु एकसामयिकत्वादसम्भव एवायमिति भावः । यदि पुनरर्थावग्रहे शब्दनिश्चयः स्यात् तदा अपाय एवासौ स्यात् नत्वर्थावग्रहः निश्चयस्यापायरूपत्वात्।" –विशेषा० बृ० गा० २५३.

पृ० ४. पं० १३. 'स्यान्मतम्'–"ननु प्रथमसमय एव रूपादिव्यपोहेन 'शब्दोऽयम्'
25 इति प्रत्ययोऽर्थावग्रहत्वेन अभ्युपगम्यताम्, शब्दमात्रत्वेन सामान्यत्वात्, उत्तरकालं तु 'प्रायो माधुर्यादयः शङ्खशब्दधर्मा इह घटन्ते, न तु शार्ङ्गधर्माः खरकर्कशत्वादयः' इति विमर्शबुद्धिरीहा, तस्मात् 'शाङ्ख एवायं शब्दः' इति तद्विशेषस्त्वपायोऽस्तु।" –विशेषा० बृ० गा० २५४.

पृ० ४ पं० १५ 'नैवम्, अशब्द'—"यस्माद् न रूपादिरयम्, तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन गृहीतत्वात्, अतो 'नाऽशब्दोऽयम्' इति निश्चीयते। यदि तु रूपादिभ्योऽपि व्यावृत्तिर्गृहीता न स्यात्,
30 तदा 'शब्दोऽयम्' इति निश्चयोऽपि न स्यादिति भावः । तस्मात् 'शब्दोऽयं नाऽशब्दः' इति विशेषप्रतिभास एवाऽयम् । तथा च सत्यस्याऽप्यपायप्रसङ्गतोऽवग्रहाभावप्रसङ्ग इति स्थितम्।" –विशेषा० बृ० गा० २५४.

पृ० ४. पं० १६. 'स्तोकग्रहणम्'—"अथ परोऽवग्रहापाययोर्विषयविभागं दर्शयन्नाह–

तादिश्रवणे 'सशोकोऽयम्' इत्यादिज्ञानम्। एवं विशिष्टाभिसन्धिपूर्वकनिष्ठ्यूतकासितक्षुतादिश्रवणेऽपि आत्मज्ञानादि ज्ञानं वाच्यमिति। अथवा श्रुतज्ञानोपयुक्तस्य आत्मनः सर्वात्मनैवोपयोगात् सर्वोऽपि उच्छ्वसितादिको व्यापारः श्रुतमेवेह प्रतिपत्तव्यम् इति उच्छ्वसितादयः श्रुतं भवन्त्येवेति।" -विशेषा० वृ० गा० ५०२.

5　पृ० ७. पं० १०. **'सञ्ज्ञिश्रुतम्'** -विशेषा० वृ० गा० ५०४.

"इदमुक्तं भवति-यतः स्मरणचिन्तादिदीर्घकालिकज्ञानसहितः समनस्कपञ्चेन्द्रियः संज्ञीत्यागमे व्यवह्रियते, असंज्ञी तु प्रसह्यप्रतिषेधमाश्रित्य यद्यप्येकेन्द्रियादिरपि लभ्यते तथापि समनस्कसंज्ञी तावत् पञ्चेन्द्रिय एव भवति। ततः पर्युदासाश्रयणात् असंज्ञ्यपि अमनस्कसंमूर्च्छनपञ्चेन्द्रिय एव आगमे प्रायो व्यवह्रियते। तदेवंभूतः संज्ञासंज्ञिव्यवहारो दीर्घकालिकोपदेशेनैव

10　उपपद्यते।" -विशेषा० वृ० गा० ५२६.

पृ० ७. पं० ११. **'सम्यक्'**-"इह अङ्गप्रविष्टम् आचारादि श्रुतम्, अनङ्गप्रविष्टं तु आवश्यकादि श्रुतम्। एतद् द्वितयमपि स्वामिचिन्तानिरपेक्षं स्वभावेन सम्यक् श्रुतम्। लौकिकं तु भारतादि प्रकृत्या मिथ्याश्रुतम्। स्वामित्वचिन्तायां पुनः लौकिके भारतादौ लोकोत्तरे च आचारादौ भजनाऽवसेया। सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं भारताद्यपि सम्यक् श्रुतं सावद्यभाषित्व-भवहेतुत्वादियथा-

15　वस्थिततत्त्वस्वरूपबोधतो विषयविभागेन योजनात्। मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं तु आचाराद्यपि अयथावस्थितबोधतो वैपरीत्येन योजनादिति भावार्थ इति।" विशेषा० वृ० गा० ५२७.

पृ० ७. पं० १४. **'सादि द्रव्यतः'**—विशेषा० वृ० गा० ५३८, ५४८.

पृ० ७. पं० १४. **'क्षेत्रतश्च'**-"क्षेत्रे चिन्त्यमाने भरतैरावतक्षेत्राण्याश्रित्य सम्यक् श्रुतं सादि सनिधनं च भवति। एतेषु हि क्षेत्रेषु प्रथमतीर्थंकरकाले तद्भवतीति सादित्वं, चरमतीर्थ-

20　कृत्तीर्थान्ते तु अवश्यं व्यवच्छिद्यते इति सपर्यवसितत्वमिति। काले तु अधिक्रियमाणे द्वे समे उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ समाश्रित्य तत्रैव तेष्वेव भरतैरावतेष्वेतत् सादि सपर्यवसितं भवति; द्वयोरपि समयोः तृतीयारके प्रथमं भावात् सादित्वम्। उत्सर्पिण्यां चतुर्थस्यादौ, अवसर्पिण्यां तु पञ्चमस्यान्ते अवश्यं व्यवच्छेदात् सपर्यवसितत्वम्। भावे पुनः विचार्यमाणे प्रज्ञापकं गुरुम्, श्रुतप्रज्ञापनीयांश्च अर्थानासाद्य इदं सादि सपर्यवसितं स्यादिति।" —विशेषा० वृ० गा० ५४६.

25　पृ० ७. पं० १५. **'अनादि द्रव्यतः'**-"द्रव्ये-द्रव्यविषये नानापुरुषान् नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतान् नानासम्यग्दृष्टिजीवानाश्रित्य श्रुतज्ञानं सम्यक्श्रुतं सततं वर्त्तते। अभूत् भवति भविष्यति च। न तु कदाचिद् व्यवच्छिद्यते। ततस्तानाश्रित्य इदम् अनादि अपर्यवसितं च स्यादिति भावः। क्षेत्रे पुनः पञ्चमहाविदेहलक्षणान् विदेहानङ्गीकृत्य। काले तु यस्तेष्वेव विदेहेषु कालः अनवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपः तमाश्रित्य। भावे तु क्षायोपशमिके श्रुतज्ञानं सततं वर्त्तते अतोऽनादि अपर्यवसितम्।

30　सामान्येन हि महाविदेहेषु उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यभावरूपनिजकालविशिष्टेषु द्वादशाङ्गश्रुतं कदापि न व्यवच्छिद्यते तीर्थङ्करगणधरादीनां तेषु सर्वदैव भावात्।"—विशेषा० वृ० गा० ५४८.

पृ० ७. पं० १७. **'गमिकम्'**-गमा भङ्गका गणितादिविशेषाश्च तद्बहुलं तत्सङ्कुलं गमिकम्।

इदं शब्दबुद्धिमात्रकं शब्दमात्रस्तोकविशेषावसायित्वात् स्तोकविशेषग्राहकम्, अतोऽपायो न भवति, किन्तु अवग्रह एवायम् । कः पुनस्तर्हि अपायः ? । 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इत्यादि-विशेषणविशिष्टं यज्ज्ञानं तदपायः बृहद्विशेषावसायित्वादिति । हन्त ! यदि यत् यत् स्तोकं तत् तत् नापायः, तर्हि निवृत्ता सांप्रतमपायज्ञानकथा, उत्तरोत्तरार्थग्रहणापेक्षया पूर्वपूर्वार्थ-विशेषावसायस्य स्तोकत्वात् । एवमुत्तरोत्तरविशेषग्राहिणामपि ज्ञानानां तदुत्तरोत्तरभेदापेक्षया 5 स्तोकत्वादपायत्वाभावो भावनीयः ।" –विशेषा० बृ० गा० २५५.

पृ० ४. पं०. १६ **'किञ्च शब्दोऽयमिति'**—"किञ्च, शब्दगतान्वयधर्मेषु रूपादिभ्यो व्यावृत्तौ च गृहीतायां 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञानं युज्यते । तद्ग्रहणं च विमर्शमन्तरेण नोपपद्यते, विमर्शश्च ईहा, तस्मादीहामन्तरेण अयुक्तमेव 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञानम् । अथ निश्चयकालात् पूर्वमीहित्वा भवतोऽपि 'शब्द एवायम्' इति ज्ञानमभिमतम्; हन्त ! तर्हि 10 निश्चयज्ञानात् पूर्वं असावीहा भवद्वचनतोऽपि सिद्धा ।" –विशेषा० बृ० गा० २५७.

पृ० ४. पं० १८. **'सा च नागृहीते'**—"नन्वीहायाः पूर्वं किं तद् वस्तु प्रमात्रा गृहीतम्, यदीहमानस्य तस्य 'शब्द एवायम्' इति निश्चयज्ञानमुपजायते ? । नहि कश्चिद् वस्तुन्यगृहीते-ऽकस्मात् प्रथमत एवेहां कुरुते ।" –विशेषा० बृ० गा० २५८.

"ईहायाः पूर्वं यत् सामान्यं गृह्यते तस्य तावद् ग्रहणकालेन भवितव्यम् । स चास्मद- 15 भ्युपगतसामयिकार्थावग्रहकालरूपो न भवति, अस्मदभ्युपगताङ्गीकारप्रसङ्गात् । किं तर्हि ? । अस्मदभ्युपगतार्थावग्रहात् पूर्वमेव भवदभिप्रायेण तस्य सामान्यस्य ग्रहणकालेन भवितव्यम्, पूर्वं च तस्याऽस्मदभ्युपगतार्थावग्रहस्य व्यञ्जनकाल एव वर्तते । भवत्वेवम्, तथापि तत्र सामान्यार्थ-ग्रहणं भविष्यति इत्याशङ्क्याह—स च व्यञ्जनकालः अर्थपरिशून्यः, न हि तत्र सामान्यरूपो विशेषरूपो वा कश्चनाप्यर्थः प्रतिभाति, तदा मनोरहितेन्द्रियमात्रव्यापारात्, तत्र चार्थप्रतिभासाऽ- 20 योगात् । तस्मात् पारिशेष्यात् अस्मदभ्युपगतार्थावग्रह एव सामान्यग्रहणम्, तदनन्तरं चान्वय-व्यतिरेकधर्मपर्यालोचनरूपा ईहा, तदनन्तरं च 'शब्द एवायम्' इति निश्चयज्ञानमपायः ।" –विशेषा० बृ० गा० २५९.

पृ० ४. पं० १९. **'नन्वनन्तरम्'**—"न उण जाणइ के वेस सद्देत्ति अस्मिन् नन्दिसूत्रे 'न पुनर्जानाति कोप्येष शाङ्खशार्ङ्गाद्यन्यतरः शब्दः' इति विशेषस्यैवापरिज्ञानमुक्तम् । शब्दसामान्य- 25 मात्रग्रहणं तु अनुज्ञातमेव । शब्दसामान्ये गृहीत एव तद्विशेषमार्गणस्य युज्यमानत्वात् ।" –विशेषा० बृ० गा० २६०.

पृ० ४. पं० २१. **'न; शब्दः शब्दः'**—"अत्रोत्तरमाह—सर्वत्रावग्रहस्वरूपं प्ररूप-यन् 'शब्दः शब्दः' इति प्रज्ञापक एव वदति न तु तत्र ज्ञाने शब्दप्रतिभासोऽस्ति अन्यथा न समयमात्रे अर्थावग्रहकाले 'शब्दः' इति विशेषणं युक्तम्, आन्तर्मुहूर्तिकत्वात् शब्दनिश्चयस्य" । 30 –विशेषा० बृ० गा० २६१.

पृ० ४. पं० २१. **'अर्थावग्रहे'**—"यदि तव गाढः श्रुतावष्टम्भः तदा तत्राप्येतत् भणितं यदुत प्रथममव्यक्तस्यैव शब्दोल्लेखरहितस्य शब्दमात्रस्य ग्रहणम् । केन पुनः सूत्रावयवेनेद-

अथवा गमाः सदृशपाठाः ते च कारणवशेन यत्र बहवो भवन्ति तद् गमिकम्, तच्चैवंविधं प्रायः दृष्टिवादे। यत्र प्रायो गाथाश्लोकवेष्टकाद्यसदृशपाठात्मकं तदगमिकम्, तच्चैवंविधं प्रायः कालिकश्रुतम्।" विशेषा० बृ० गा० ५४९.

पृ० ७. पं० १८. 'अङ्गप्रविष्टम्'—"गणधरकृतं पदत्रयलक्षणतीर्थकरादेशनिष्पन्नम्, ध्रुवं च यच्छ्रुतं तदङ्गप्रविष्टमुच्यते, तच्च द्वादशाङ्गीरूपमेव। यत्पुनः स्थविरकृतं मुत्कलार्थाभिधानं चलं च तद् आवश्यकप्रकीर्णादिश्रुतम् अङ्गबाह्यमिति।" -विशेषा० बृ० गा० ५५०. 5

पृ० ८. पं० ७. 'मनोमात्र' -विशेषा० बृ० गा० ८१०.

पृ० ८. पं० ८. 'बाह्यानर्थान्'—"तेन द्रव्यमनसा प्रकाशितान् बाह्यांश्चिन्तनीयघटादीननुमानेन जानाति, यत एव तत्परिणतानि एतानि मनोद्रव्याणि तस्मादेवंविधेनेह चिन्तनीयवस्तुना भाव्यम् इत्येवं चिन्तनीयवस्तूनि जानाति न साक्षादित्यर्थः। चिन्तको हि मूर्त्तममूर्त्तं च वस्तु चिन्तयेत्। न च छद्मस्थोऽमूर्त्तं साक्षात् पश्यति। ततो ज्ञायते अनुमानादेव चिन्तनीयं वस्त्ववगच्छति।" -विशेषा० बृ० गा० ८१४. 10

पृ० ८. पं० १५. 'निखिलद्रव्य' -विशेषा० बृ० गा० ८२३.

पृ० ८. पं० २२. 'कवलभोजिनः कैवल्यम्'—

"जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं।
सिंहा(घा)णखेलसेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य॥" बोधप्राभृत-३७. 15

"कवलाभ्यवहारजीविनः केवलिनः इत्येवमादिवचनं केवलिनामवर्णवादः।"
सर्वार्थसि० ६.१३. राजवा०. ६. १३.

पृ० ९. पं० १. न्याय-वैशेषिक-साङ्ख्य-योग-मीमांसा-बौद्धादिदर्शनानां स्मृतेरप्रमात्वं जैनदर्शनस्य पुनस्तस्याः प्रमात्वमभिमतम्। अत एव ग्रन्थकारेण अत्र स्मृत्यप्रमात्वसमर्थनपरां विविधां युक्तिं निरसितुकामेन पूर्वं चिन्तामणिकारोपन्यस्ता स्मृत्ययथार्थत्वसमर्थिका युक्तिः समालोचयितुमुपक्रान्ता 'अतीततत्तांशे' इत्यादिना। चिन्तामणिकारो हि—"यत्रा स घटः इति स्मृतौ तत्ताविशिष्टस्य वर्त्तमानता भासते।....तत्र विशेष्यस्य विशेषणस्य वा वर्तमानत्वाभावात् स्मृतिरयथार्थैव" [प्रत्यक्षचि० पृ० ८४५] इत्यादिना ग्रन्थेन 'स घटोऽस्ति' इत्यादिस्मृतौ तद्देशकालवर्त्तित्वरूपतत्ताविशिष्टे विशेष्यभूते घटे तद्देशकालवर्तित्वरूपे तत्ताविशेषणे वा वर्तमानकालीनास्तित्वावगाहितया तत्र च तथाभूते विशिष्टे विशेषणे वा वर्तमानकालीनास्तित्वस्य बाधात् स्मृतेरयथार्थत्वं दर्शितवान्। 20 25

ग्रन्थकारस्तु चिन्तामणिकाराङ्गीकृतं विशेषणे विशेष्यकालभाननियमं सार्वत्रिकत्वेन अनभ्युपगम्य तन्नियमबलेन चिन्तामणिकारसमर्थितं स्मृत्ययथार्थत्वमपाकरोति 'सर्वत्र विशेषणे विशेष्यकालभानानियमात्' इत्यादिना। तथा च ग्रन्थकारमते 'स घटः' इत्यादौ अतीततत्तांशे वर्तमानकालवर्तित्वस्य भानाभावात् एकस्मिन्नेव घटात्मके धर्मिणि अतीततत्तायाः वर्त्तमानकाल- 30

मुक्तम् ?। नन्द्यध्ययने 'से जहा नामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जत्ति'—अत्र अव्यक्तमिति कोऽर्थः ?। 'शब्दोऽयम्' 'रूपादिर्वा' इत्यादिना प्रकारेणाव्यक्तमित्यर्थः । न च वक्तव्यम्-शाङ्ख-शार्ङ्गभेदापेक्षया शब्दोल्लेखस्याप्यव्यक्तत्वे घटमाने कुत इदं व्याख्यानं लभ्यते ?, इति; अवग्रहस्यानाकारोपयोगरूपतया सूत्रेऽधीतत्वात्, अनाकारोपयोगस्य च सामान्यमात्रविषयत्वात्, 5 प्रथममेवाऽपायप्रसक्त्याऽवग्रहेहाऽभावप्रसङ्ग इत्याद्युक्तत्वाच्च ।" –विशेषा० बृ० गा० २६२.

पृ० ४. पं० २३. **'यदि च व्यञ्जनावग्रहे'**—"ननु यदि व्यञ्जनावग्रहेपि अव्यक्तशब्दग्रहणं भवेत् तदा को दोषः स्यात् ?, इत्याह—यदि च व्यन्जनावग्रहे असौ अव्यक्तशब्दः प्रतिभासत इत्यभ्युपगम्यते तदा व्यञ्जनावग्रहो न प्राप्नोति, अर्थावग्रह एवासौ अव्यक्तार्थावग्रहणात् । अथ अस्यापि सूत्रे प्रोक्तत्वादस्तित्वं न परिह्रियते तर्हि द्वयोरप्यविशेषः सोपि अर्थावग्रहः सोपि व्यञ्जनावग्रहः 10 प्राप्नोति ।" –विशेषा० बृ० गा० २६५.

पृ० ४. पं० २५. **'केचित्तु'**—"केचिदेवमाहुः—यदेतत् सर्वविशेषविमुखस्याव्यक्तस्य सामान्यमात्रस्य ग्रहणं तत् शिशोस्तत्क्षणजातमात्रस्य भवति नात्र विप्रतिपत्तिः, असौ सङ्केतादिविकलोऽपरिचितविषयः । यः परिचितविषयः तस्य आद्यशब्दश्रवणसमय एव विशेषविज्ञानं जायते स्पष्टत्वात् तस्य, ततश्चामुमाश्रित्य 'तेण सद्देत्ति उग्गहिए' इत्यादि यथाश्रुतमेव व्याख्यायते, 15 न कश्चिद्दोषः ।" –विशेषा० बृ० गा० २६८.

पृ० ४. पं० २७. **'तन्न, एवं हि'**—"अत्रोत्तरमाह—यदि परिचितविषयस्य जन्तोः अव्यक्तशब्दज्ञानमुल्लङ्घ्य तस्मिन्नर्थावग्रहैकसमयमात्रे शब्दनिश्चयज्ञानं भवति तदा अन्यस्य कस्यचित् परिचिततरविषयस्य पटुतरावबोधस्य तस्मिन्नेव समये व्यक्तशब्दज्ञानमप्यतिक्रम्य 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इत्यादिसङ्ख्यातीतविशेषग्राहकमपि ज्ञानं भवदभिप्रायेण स्यात् । दृश्यन्ते 20 च पुरुषशक्तीनां तारतम्यविशेषाः । भवत्येव कस्यचित् प्रथमसमयेऽपि सुबहुविशेषग्राहकमपि ज्ञानमिति चेत्; न; 'न उण जाणइ के वेस सद्दे' इत्यस्य सूत्रावयवस्य अगमकत्वप्रसङ्गात् । विमध्यमशक्तिपुरुषविषयमेतत् सूत्रमिति चेत्; न; अविशेषेण उक्तत्वात् सर्वविशेषविषयत्वस्य च युक्त्यनुपपन्नत्वात् । नहि प्रकृष्टमतेरपि शब्दधर्मिणमगृहीत्वा उत्तरोत्तरबहुसुधर्मग्रहणसंभवोऽस्ति निराधारधर्माणामनुपपत्तेः । –विशेषा० बृ० गा० २६९.

25 पृ० ४. पं० ३१. **'अन्ये तु आलोचना'**—"विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः ।" –सर्वार्थ० १. १५.

पृ० ५. पं० २. **'यत आलोचनम्'**—"यदेतत् भवदुत्प्रेक्षितं सामान्यग्राहकमालोचनं तत् व्यञ्जनावग्रहात् पूर्वं वा भवेत्, पश्चाद्वा भवेत्, स एव व्यञ्जनावग्रहोऽपि आलोचनं भवेत् ?, 30 इति त्रयी गतिः । किञ्चातः ?।" –विशेषा० बृ० गा० २७४.

"पूर्वं तत् नास्ति । कुतः ?। अर्थव्यञ्जनसम्बन्धाभावादिति । अर्थः—शब्दादिविषयभावेन परिणतद्रव्यसमूहः, व्यञ्जनं तु श्रोत्रादि, तयोः सम्बन्धः, तस्याभावात् । सति हि अर्थव्यञ्जन-

वर्तित्वस्य च स्वातन्त्र्येणैव भानात् न स्मृतेरयथार्थत्वम् इति भावः। अत्रेदमाकूतम्—'चैत्रो धनवान् वर्तते' इत्यादिस्थलीयशाब्दबोधे चैत्राधिकरणकालवर्तित्वस्य धनांशे, 'भुञ्जाना-श्शेरते' इत्यादिस्थलीयशाब्दबोधे तु भोजनाधिकरणकालवर्तित्वस्य शयनांशे भासमानतया क्वचित् विधेयांशे उद्देश्यसमानकालीनत्वस्य क्वचिच्च उद्देश्यतावच्छेदकसमानकालीनत्वस्य
5 भानमिति सार्वत्रिको नियमः चिन्तामणिकारस्याभिप्रेतः। परन्तु 'ब्राह्मणः श्रमणः' इत्यादि-स्थलीयशाब्दबोधे ब्राह्मणत्वांशे श्रमणाधिकरणवर्तमानकालवर्तित्वस्य श्रमणत्वाधिकरणतत्काल-वर्तित्वस्य वा भानाभावात् नोक्तनियमस्य सार्वत्रिकत्वं किन्तु प्रामाणिकप्रतीतिबलात् यत्र यत्र विधेयांशे उद्देश्यकालीनत्वं उद्देश्यतावच्छेदककालीनत्वं वा भासते तत्र तत्रैव उक्तनियमस्य प्रसरो न तु सर्वत्र इति ग्रन्थकाराभिप्रायः।

10 पृ० ९. पं० २. अन्यदीयप्रमात्वनिरपेक्षत्वे सत्येव प्रमात्वस्य प्रमाव्यवहारप्रयोजकतया स्मृतेर्यथार्थत्वेऽपि अनुभवप्रमात्वाधीनप्रमात्वशालितया न प्रमात्वमिति उदयनाचार्यादिभिस्स-मर्थितं (न्यायकु० ४.१) स्मृत्यप्रमात्वं आशङ्कते **'अनुभवप्रमात्वपारतन्त्र्यात्'** इत्यादिना।

पृ० ९. पं० ३. प्रतिबन्द्या अनुमितेरप्रमात्वापादनेन निराकरोति **'अनुमितेरपि'** इत्यादिना।

पृ० ९. पं० ७. अनुमित्याः स्मृतेर्वैलक्षण्यमुपपादयितुमाह—**'नैयत्येन'** इति। तथा च
15 अनुमितिकारणीभूते व्याप्तिज्ञाने हेतुज्ञाने वा यः पक्षतावच्छेदकरूपो वा तद्व्यापकसाध्यप्रति-योगिकसंसर्गरूपो वा अर्थः अवश्यंतया न भासते सोऽपि अनुमितेर्विषय इति तस्याः स्ववि-षयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यमिति पूर्वपक्षार्थः।

पृ० ९. पं० ८. तुल्ययुक्त्या समाधत्ते—**'तर्हि'** इत्यादिना। तथा च पूर्वं अनुभवेन विषयीकृतस्यापि अर्थस्य तत्तया अनवगाहनात् स्मृत्या च अनुभूतस्याऽपि तस्यैव अर्थस्य तत्तया
20 अवगाहनात् तस्या अपि अनुमितिवत् विषयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यमबाधितमेव इति भावः।

पृ० ९. पं० १८. प्राभाकरा हि सर्वस्याऽपि ज्ञानस्य यथार्थत्वं मन्यमानाः 'शुक्तौ इदं रजत-म्' इत्यादिप्रसिद्धभ्रमस्थलेऽपि स्मृतिप्रत्यक्षरूपे द्वे ज्ञाने तयोश्च विवेकाख्यातिपरपर्यायं भेदाग्रहं कल्पयित्वा सर्वज्ञानयथार्थत्वगोचरं स्वकीयं सिद्धान्तं समर्थयमानाः तुल्ययुक्त्या प्रत्यभिज्ञास्थ-लेऽपि अगृहीतभेदं स्मृतिप्रत्यक्षरूपं ज्ञानद्वयमेव कल्पयन्ति इति तेषामपि कल्पना अत्र निरास्य-
25 त्वेन **'अत एव'** इत्यादिना निर्दिष्टा।

पृ० ९. पं० १९. यदि च सर्वज्ञानयथार्थत्वसिद्धान्तानुरोधेन भ्रमस्थले प्रत्यभिज्ञास्थले च ज्ञानद्वयमेव अभ्युपगम्यते न किञ्चिदेकं ज्ञानम्, तदा विशिष्टज्ञानस्यापि अनङ्गीकार एव श्रेयान्, सर्वस्यापि हि विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यज्ञान-विशेषणज्ञानोभयपूर्वकत्वनियमेन अवश्यक्लृप्ततदुभय-ज्ञानेनैव अगृहीतभेदमहिम्ना विशिष्टबुद्ध्युपपादने तदुभयज्ञानव्यतिरिक्तस्य तदुत्तरकालवर्तिनो
30 विशिष्टज्ञानस्य कल्पने गौरवात् इत्यभिप्रायेण प्राभाकरमतं दूषयति—**'इत्थं सति'** इत्यादिना।

पृ० ९. पं० २०. प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमेव न तु तद्व्यतिरिक्तज्ञानत्वमिति नैयायिक-मतमाशङ्कते **'तथापि अक्षान्वय'** इत्यादिना।

सम्बन्धे सामान्यार्थालोचनं स्यात् अन्यथा सर्वत्र सर्वदा तद्भावप्रसङ्गात्। व्यञ्जनावग्रहाच्च पूर्वम् अर्थव्यञ्जनसम्बन्धो नास्ति, तद्भावे च व्यञ्जनावग्रहस्यैव इष्टत्वात् तत्पूर्वकालता न स्यादिति।" -विशेषा० वृ० गा० २७४.

पृ० ५. पं० ३. **'न द्वितीयः'**—"द्वितीयविकल्पं शोधयन्नाह-अर्थावग्रहोऽपि यस्मात् व्यञ्जनावग्रहस्यैव चरमसमये भवति तस्मात् पश्चादपि व्यञ्जनावग्रहादालोचनज्ञानं न युक्तम्, 5 निरवकाशत्वात्। नहि व्यञ्जनार्थावग्रहयोरन्तरे कालः समस्ति यत्र तत् त्वदीयमालोचनज्ञानं स्यात्, व्यञ्जनावग्रहचरमसमय एवार्थावग्रहसद्भावात्।" -विशेषा० वृ० गा० २७५.

पृ० ५. पं० ४. **'न तृतीयः'**—"पूर्वपश्चात्कालयोर्निषिद्धत्वात् पारिशेष्याद् मध्यकालवर्ती तृतीयविकल्पोपन्यस्तो व्यञ्जनावग्रह एव भवताऽऽलोचनाज्ञानत्वेनाभ्युपगतो भवेत्। एवं च न कश्चिद् दोषः, नाममात्र एव विवादात्।" -विशेषा० वृ० गा० २७५. 10

पृ० ५. पं० ४. **'तस्य च'**—"क्रियतां तर्हि प्रेरकवर्गेण वर्धापनम्, त्वदभिप्रायाविसंवादलाभादिति चेत्; नैवम्; विकल्पद्वयस्येह सद्भावात्, तथाहि तद्व्यञ्जनावग्रहकालेऽभ्युपगम्यमानमालोचनम्-किमर्थस्यालोचनम्, व्यञ्जनानां वा?, इति विकल्पद्वयम्। तत्र प्रथमविकल्पं दूषयन्नाह-तत्समालोचनं यदि सामान्यरूपस्य अर्थस्य दर्शनमिष्यते तर्हि न व्यञ्जनावग्रहात्मकं भवति, व्यञ्जनावग्रहस्य व्यञ्जनसम्बन्धमात्ररूपत्वेन अर्थशून्यत्वात्। अथ द्वितीयविकल्पमङ्गीकृत्याह- 15 अथ व्यञ्जनस्य शब्दादिविषयपरिणतद्रव्यसम्बन्धमात्रस्य तत्समालोचनमिष्यते तर्हि कथम् आलोचकत्वं तस्य घटते?, अर्थशून्यस्य व्यञ्जनसम्बन्धमात्रान्वितत्वेन सामान्यार्थालोचकत्वानुपपत्तेः।" विशेषा० वृ० गा० २७६.

पृ० ५. पं० ५. **'किञ्च, आलोचनेन'**—"भवतु तस्मिन् व्यञ्जनावग्रहे सामान्यं गृहीतम् तथापि कथमनीहिते तस्मिन् अकस्मादेव अर्थावग्रहकाले 'शब्द एषः' इति विशेषज्ञानं युक्तम्?। 20 'शब्द एव एषः' इत्ययं हि निश्चयः। न चायमीहामन्तरेण झगित्येव युज्यते। अतो नार्थावग्रहे 'शब्दः' इत्यादिविशेषबुद्धिर्युज्यते।" -विशेषा० वृ० गा० २७८.

पृ० ५. पं० ६. **'युगपच्च'**—"अथ अर्थावग्रहसमये शब्दाद्यवगमेन सहैवेहा भविष्यतीति मन्यसे; तत्राह-यदिदमर्थावग्रहे विशेषज्ञानं त्वया इष्यते सोऽपायः, स च अवगमस्वभावो निश्चयस्वरूप इत्यर्थः। या च तत्समकालमीहाऽभ्युपेयते सा तर्कस्वभावा अनिश्चयात्मिका इत्यर्थः। 25 तत एतौ ईहापायौ अनिश्चयेतरस्वभावौ कथमर्थावग्रहे युगपदेव युक्तौ, निश्चयानिश्चययोः परस्परपरिहारेण व्यवस्थितत्वात्। अपरञ्च समयमात्रकालोऽर्थावग्रहः ईहापायौ तु प्रत्येकमसङ्ख्येयसमयनिष्पन्नौ कथम् एकस्मिन्नर्थावग्रहसमये स्याताम् अत्यन्तानुपपन्नत्वात्।" विशेषा० वृ० गा० २७९.

पृ० ५ पं० ७. **'नन्ववग्रहे'**—"क्षिप्रमवगृह्णाति, चिरेणावगृह्णाति, बह्ववगृह्णाति, अबह्ववगृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति, अबहुविधमवगृह्णाति, एवमनिश्रितम्, निश्रितम्, असन्दिग्धम्, 30 सन्दिग्धम्, ध्रुवम्, अध्रुवमवगृह्णाति-इत्यादिना ग्रन्थेनावग्रहादयः शास्त्रान्तरे द्वादशभिर्विशेषणैर्विशेषिताः। ततः 'क्षिप्रं चिरेण वाऽवगृह्णाति' इति विशेषणान्यथानुपपत्तेर्ज्ञायते नैकसमय-

पृ० ९. पं० २१. प्रत्यभिज्ञानस्य इन्द्रियसम्बन्धपश्चाद्भावित्वेऽपि न साक्षात् तत्सम्बन्धान्वयव्यतिरेकानुविधानं किन्तु साक्षात् प्रत्यक्षस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधानमेव इति प्रत्यभिज्ञानोत्पत्तौ प्रत्यक्षस्मरणाभ्यां इन्द्रियसंसर्गस्य व्यवहितत्वात् साक्षात् तज्जन्यत्वाभावेन प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रत्यक्षत्वं कल्पनार्हमित्यभिप्रायेण दूषयति 'तन्न' इत्यादिना ।

पृ० ९. पं० २६. **'अनुमानस्यापि'**—अयं भावः—यदि स्मृतिमपेक्ष्य चक्षुरादिबहिरिन्द्रियं 'स एवायं घटः' इत्यादिरूपं प्रत्यक्षजातीयमेव प्रत्यभिज्ञानं जनयेत् तदा तुल्ययुक्त्या व्याप्तिस्मृत्यादिसापेक्षमेव अन्तरिन्द्रियं पक्षे साध्यवत्ताज्ञानं प्रत्यक्षजातीयमेव जनयेत्, तथा च प्रत्यभिज्ञानवत् अनुमितेरपि प्रत्यक्षजातीयताप्रसञ्जनेन सिद्धान्तसम्मतस्य अनुमानप्रमाणपार्थक्यस्य विच्छेदापत्तिः । 5

पृ० ९. पं० २७. 'स एवायं घटः' इत्यादौ विशेष्यीभूतघटांशे चक्षुरादीन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वात् तत्तारूपविशेषणविषयकस्मृतिरूपज्ञानबलेन प्रत्यभिज्ञानं विशिष्टविषयकमेव प्रत्यक्षजातीयं भवितुमर्हतीति नैयायिकविशेषमतमाशङ्क्य निराकरोति **'एतेन'** इत्यादिना । 10

पृ० ९. पं० २९. **'एतत्सदृश'**—'स एवायं घटः' इत्यादौ विशेष्यांशे इन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वेऽपि यत्र न पुरोवर्त्तिनो विशेष्यत्वं यथा 'एतत् सदृशः' इत्यादिस्थले किन्तु तस्य विशेषणत्वं तत्र विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षाभावेन विशेषणज्ञानसहकृतविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्यापि दुष्करत्वात् न विशिष्टप्रत्यक्षजातीयत्वं समुचितमिति भावः । 15

पृ० १०. पं० १. ननु क्लृप्तप्रत्यक्षप्रमाणान्तर्गतत्वेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तोऽपि मीमांसक-नैयायिकादयः स्थैर्यरूपमेकत्वमेव तस्याः विषयत्वेन मन्यन्ते न पुनर्जैना इव सादृश्य-वैसदृश्य-दूरत्व-समीपत्व-ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादिकमपि । ते हि सादृश्यादिप्रमेयप्रतिपत्त्यर्थमुपमानादिप्रमाणान्तरमेव प्रत्यभिज्ञाविलक्षणं कल्पयन्ति इति एकत्ववत् सादृश्यवैसदृश्यादेरपि प्रत्यभिज्ञाविषयत्वसमर्थनेन तेषां मतमपासितुं ग्रन्थकारः पूर्वं भाट्टपक्षं उपन्यस्यति **'ननु'** इत्यादिना । 20

पृ० १०. पं० ११. नैयायिकास्तु मीमांसकवत् नोपमानस्य प्रमेयं सादृश्यादिकं मन्यन्ते किन्तु सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धरूपमेव प्रमेयं तद्विषयत्वेन कल्पयन्ति इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धस्यापि प्रत्यभिज्ञाविषयत्वसमर्थनेन नैयायिकाभ्युपगतं उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं निरसितुं तन्मतमुपन्यस्यति **'एतेन'** इत्यादिना । 25

पृ० १०. पं० २०. **'आसाम्'**—सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व-दूरत्व-समीपत्वादिगोचराणां सङ्कलनात्मिकानां सर्वासां प्रतीतीनामित्यर्थः ।

पृ० १०. पं० २५. **'स्वरूपप्रयुक्ता'**—स्वाभाविकाऽव्यभिचाररूपा व्याप्तिरित्यर्थः। तच्छून्यावृत्तित्वरूपोऽव्यभिचारो द्विविधः अनौपाधिकः औपाधिकश्च । धूमे वह्निशून्यावृत्तित्वस्य उपाध्यकृतत्वेन अनौपाधिकत्वात् स्वाभाविकत्वम् । वह्नौ तु धूमशून्यावृत्तित्वस्य आर्द्रेन्धनसंयोगरूपोपाधिकृतत्वेन औपाधिकत्वात् न स्वाभाविकत्वम् इति बोध्यम् । स्वाभाविकाव्यभिचारलक्षणैव व्याप्तिरनुमित्यौपयिकीत्यभिप्रायेण उक्तम् **'स्वरूपप्रयुक्ताव्यभिचारलक्षणायाम्'** इत्यादि । 30

मात्रमान एवार्थावग्रहः, किन्तु चिरकालिकोऽपि, नहि समयमात्रमानतयैकरूपे तस्मिन् क्षिप्र-चिरग्रहणविशेषणमुपपद्यत इति भावः। तस्मादेतद्विशेषणबलात् असङ्ख्येयसमयमानोऽप्यर्थावग्रहो युज्यते। तथा, बहूनां श्रोतृणामविशेषेण प्राप्तिविषयस्थे शङ्खभेर्यादिबहुतूर्यनिर्घोषे क्षयोपशमवैचित्र्यात् कोऽप्यबहु अवगृह्णाति–सामान्यं समुदिततूर्यशब्दमात्रमवगृह्णाति इत्यर्थः। अन्यस्तु बह्वव-5 गृह्णाति–शङ्खभेर्यादितूर्यशब्दान् भिन्नान् बहून् गृह्णातीत्यर्थः। अन्यस्तु स्त्री-पुरुषादिवाद्यत्व-स्निग्ध-मधुरत्वादिबहुविधविशेषविशिष्टत्वेन बहुविधमवगृह्णाति। अपरस्तु अबहुविधविशेषविशिष्टत्वादबहु-विधमवगृह्णाति। अत एतस्माद् बहु-बहुविधाद्यनेकविकल्पनानात्ववशात् अवग्रहस्य क्वचित् सामान्यग्रहणम्, क्वचित्तु विशेषग्रहणम् इत्युभयमप्यविरुद्धम्। अतो यत् सूत्रे 'तेणं सद्देत्ति उग्गहिए' इति वचनात् 'शब्दः' इति विशेषविज्ञानमुपदिष्टम्, तदप्यर्थावग्रहे युज्यत एव इति केचित्"
10 –विशेषा० वृ० गा० २८०.

पृ० ५. पं० ८. **'न; तत्त्वतः'** "अत्रोत्तरमाह–बहुबहुविधादिग्राहको हि विशेषावगमो नि-श्चयः, स च सामान्यार्थग्रहणं ईहां च विना न भवति, यश्च तदविनाभावी सोऽपाय एव, कथ-मर्थावग्रह इति भण्यते?। आह–यदि बहुबहुविधादिग्राहकोऽपाय एव भवति तर्हि कथमन्यत्र अवग्रहादीनामपि बह्वादिग्रहणमुक्तम्?; सत्यम्; किन्तु अपायस्य कारणमवग्रहादयः। कारणे च 15 योग्यतया कार्यस्वरूपमस्ति इति उपचारतस्तेऽपि बह्वादिग्राहकाः प्रोच्यन्ते इत्यदोषः। यद्येवं तर्हि वयमपि अपायगतं विशेषज्ञानमर्थावग्रहेपि उपचरिष्याम इति। नैतदेवम्; यतो मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते। न चैवमुपचारे किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। 'तेणं सद्देत्ति उग्ग-हिए' इत्यादिसूत्रस्य यथाश्रुतार्थनिगमनं प्रयोजनमिति चेत्; न; 'सद्देत्ति भणइ वत्ता' इत्यादिप्रकारेणाऽपि तस्य निगमितत्वात्। सामर्थ्यव्याख्यानमिदम्, न यथाश्रुतार्थव्याख्येति 20 चेत्; तर्हि यद्युपचारेणापि श्रौतोऽर्थः सूत्रस्य व्याख्यायत इति तवाभिप्रायः, तर्हि यथा युज्यत उपचारः तथा कुरु। न चैतत् सामयिकेऽर्थावग्रहेऽसङ्ख्येयसामयिकं विशेषग्रहणं कथमप्युपपद्यते।"
–विशेषा० वृ० गा० २८१.

पृ० ५. पं० १०. **'अथवा अवग्रहो'**—"प्रथमं नैश्चयिके अर्थावग्रहे रूपादिभ्योऽव्यावृ-त्तमव्यक्तं शब्दादिवस्तुसामान्यं गृहीतं ततः तस्मिन्नीहिते सति 'शब्द एवाऽयम्' इत्यादिनिश्च-25 यरूपोऽपायो भवति। तदनन्तरं तु 'शब्दोऽयं किं शाङ्खः शार्ङ्गो वा' इत्यादिशब्दविशेष-विषया पुनरीहा प्रवर्तिष्यते, 'शाङ्ख एवायं शब्दः' इत्यादिशब्दविशेषविषयोऽपायश्च यो भवि-ष्यति तदपेक्षया 'शब्द एवायम्' इतिनिश्चयः प्रथमोऽपायोऽपि सन्नुपचारादर्थावग्रहो भण्यते ईहा-ऽपायापेक्षात इति, अनेन चोपचारस्यैकं निमित्तं सूचितम्। 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इत्याद्यप्यविशे-षापेक्षया येनाऽसौ सामान्यशब्दरूपं सामान्यं गृह्णाति इति, अनेन तूपचारस्यैव द्वितीयं निमित्त-30 मावेदितम्, तथाहि–यदनन्तरमीहापायौ प्रवर्तेते, यश्च सामान्यं गृह्णाति सोऽर्थावग्रहः, यथाद्यो नैश्चयिकः, प्रवर्तेते च 'शब्द एवायम्' इत्याद्यपायानन्तरमीहापायौ, गृह्णाति च 'शाङ्खोऽयम्' इत्यादिभाविविशेषापेक्षयाऽयं सामान्यम्। तस्मादर्थावग्रह एष्यविशेषापेक्षया सामान्यं गृह्णा-तीति उक्तम्। ततस्तदनन्तरं किं भवति?। ततः सामान्येन शब्दनिश्चयरूपात् प्रथमापायादन-

वर्तित्वस्य च स्वातन्त्र्येणैव भानात् न स्मृतेरयथार्थत्वम् इति भावः । अत्रेदमाकूतम्—'चैत्रो धनवान् वर्तते' इत्यादिस्थलीयशाब्दबोधे चैत्राधिकरणकालवर्तित्वस्य धनांशे, 'भुञ्जानाश्शेरते' इत्यादिस्थलीयशाब्दबोधे तु भोजनाधिकरणकालवर्तित्वस्य शयनांशे भासमानतया क्वचित् विधेयांशे उद्देश्यसमानकालीनत्वस्य क्वचिच्च उद्देश्यतावच्छेदकसमानकालीनत्वस्य 5 भानमिति सार्वत्रिको नियमः चिन्तामणिकारस्याभिप्रेतः । परन्तु 'ब्राह्मणः श्रमणः' इत्यादिस्थलीयशाब्दबोधे ब्राह्मणत्वांशे श्रमणाधिकरणवर्तमानकालवर्तित्वस्य श्रमणत्वाधिकरणतत्कालवर्तित्वस्य वा भानाभावात् नोक्तनियमस्य सार्वत्रिकत्वं किन्तु प्रामाणिकप्रतीतिबलात् यत्र यत्र विधेयांशे उद्देश्यकालीनत्वं उद्देश्यतावच्छेदककालीनत्वं वा भासते तत्र तत्रैव उक्तनियमस्य प्रसरो न तु सर्वत्र इति ग्रन्थकाराभिप्रायः ।

10 पृ० ९. पं० २. अन्यदीयप्रमात्वनिरपेक्षत्वे सत्येव प्रमात्वस्य प्रमाव्यवहारप्रयोजकतया स्मृतेर्यथार्थत्वेऽपि अनुभवप्रमात्वाधीनप्रमात्वशालितया न प्रमात्वमिति उदयनाचार्यादिभिस्समर्थितं (न्यायकु० ४.१) स्मृत्यप्रमात्वं आशङ्कते **'अनुभवप्रमात्वपारतन्त्र्यात्'** इत्यादिना ।

पृ० ९. पं० ३. प्रतिबन्द्या अनुमितेरप्रमात्वापादनेन निराकरोति **'अनुमितेरपि'** इत्यादिना ।

पृ० ९. पं० ७. अनुमित्याः स्मृतेर्वैलक्षण्यमुपपादयितुमाह—**'नैयत्येन'** इति । तथा च 15 अनुमितिकारणीभूते व्याप्तिज्ञाने हेतुज्ञाने वा यः पक्षतावच्छेदकरूपो वा तद्व्यापकसाध्यप्रतियोगिकसंसर्गरूपो वा अर्थः अवश्यंतया न भासते सोऽपि अनुमितेर्विषय इति तस्याः स्वविषयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यमिति पूर्वपक्षार्थः ।

पृ० ९. पं० ८. तुल्ययुक्त्या समाधत्ते—**'तर्हि'** इत्यादिना । तथा च पूर्वं अनुभवेन विषयीकृतस्यापि अर्थस्य तत्तया अनवगाहनात् स्मृत्या च अनुभूतस्याऽपि तस्यैव अर्थस्य तत्तया 20 अवगाहनात् तस्या अपि अनुमितिवत् विषयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यमबाधितमेव इति भावः ।

पृ० ९. पं० १८. प्राभाकरा हि सर्वस्याऽपि ज्ञानस्य यथार्थत्वं मन्यमानाः 'शुक्तौ इदं रजतम्' इत्यादिप्रसिद्धभ्रमस्थलेऽपि स्मृतिप्रत्यक्षरूपे द्वे ज्ञाने तयोश्च विवेकाख्यातिपरपर्यायं भेदाग्रहं कल्पयित्वा सर्वज्ञानयथार्थत्वगोचरं स्वकीयं सिद्धान्तं समर्थयमानाः तुल्ययुक्त्या प्रत्यभिज्ञास्थलेऽपि अगृहीतभेदं स्मृतिप्रत्यक्षरूपं ज्ञानद्वयमेव कल्पयन्ति इति तेषामपि कल्पना अत्र निरास्य- 25 त्वेन **'अत एव'** इत्यादिना निर्दिष्टा ।

पृ० ९. पं० १९. यदि च सर्वज्ञानयथार्थत्वसिद्धान्तानुरोधेन भ्रमस्थले प्रत्यभिज्ञास्थले च ज्ञानद्वयमेव अभ्युपगम्यते न किञ्चिदेकं ज्ञानम्, तदा विशिष्टज्ञानस्यापि अनङ्गीकार एव श्रेयान्, सर्वस्यापि हि विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यज्ञान-विशेषणज्ञानोभयपूर्वकत्वनियमेन अवश्यक्लृप्ततदुभयज्ञानेनैव अगृहीतभेदमहिम्ना विशिष्टबुद्ध्युपपादने तदुभयज्ञानव्यतिरिक्तस्य तदुत्तरकालवर्तिनो 30 विशिष्टज्ञानस्य कल्पने गौरवात् इत्यभिप्रायेण प्राभाकरमतं दूषयति—**'इत्थं सति'** इत्यादिना ।

पृ० ९. पं० २०. प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वमेव न तु तद्व्यतिरिक्तज्ञानत्वमिति नैयायिकमतमाशङ्कते **'तथापि अक्षान्वय'** इत्यादिना ।

न्तरम् 'किमयं शब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वा ; इत्यादिरूपेहा प्रवर्तते । ततस्तद्विशेषस्य—शङ्खप्रभवत्वादेः शब्दविशेषस्य 'शाङ्ख एवायम्' इत्यादिरूपेणापायश्च निश्चयरूपो भवति । अयमपि च भूयोऽन्यतद्विशेषाकाङ्क्षावतः प्रमातुर्भाविनीमीहामपायं चापेक्ष्य, एष्यविशेषापेक्षया सामान्यालम्बनत्वाच्चार्थावग्रह इत्युपचर्यते । इयं च सामान्यविशेषापेक्षा तावत् कर्तव्या यावदन्त्यो वस्तुनो विशेषः । यस्माच्च विशेषात् परतो वस्तुनोऽन्ये विशेषा न सम्भवन्ति सोऽन्त्यः, अथवा सम्भवत्स्वपि अन्यविशेषेषु यतो विशेषात् परतः प्रमातुस्तज्जिज्ञासा निवर्तते सोऽन्त्यः, तमन्त्यं विशेषं यावद् व्यावहारिकार्थावग्रहेहापायार्थं सामान्यविशेषापेक्षा कर्तव्या ।" –विशेषा० बृ० गा० २८२–४.

"सर्वत्र विषयपरिच्छेदे कर्तव्ये निश्चयतः ईहापायौ भवतः 'ईहा, पुनरपायः, पुनरीहा, पुनरप्यपायः' इत्ययं क्रमेण यावदन्त्यो विशेषः तावदीहापायावेव भवतः, नार्थावग्रहः । किं सर्वत्रैवमेव ?। न; आद्यमव्यक्तं सामान्यमात्रालम्बनमेकं सामयिकं ज्ञानं मुक्त्वाऽन्यत्रेहापायौ भवतः । इदं पुनर्नेहा, नाप्यपायः, किन्तु अर्थावग्रह एव । संव्यवहारार्थं व्यावहारिकजनप्रतीत्यपेक्षं पुनः सर्वत्र यो योऽपायः स स उत्तरोत्तरेहाऽपायापेक्षया, एष्यविशेषापेक्षया चोपचारतोऽर्थावग्रहः । एवं च तावद् नेयम् यावत्तारतम्येनोत्तरोत्तरविशेषाकाङ्क्षा प्रवर्तते ।"–विशेषा० बृ० गा० २८५.

"लोकेऽपि हि यो विशेषः सोऽपि अपेक्षया सामान्यम्, यत् सामान्यं तदप्यपेक्षया विशेष इति व्यवह्रियते, तथाहि—'शब्द एवायम्' इत्येवमध्यवसितोऽर्थः पूर्वसामान्यापेक्षया विशेषः, 'शाङ्खोऽयम्' इत्युत्तरविशेषापेक्षया तु सामान्यम् । अयं चोपर्युपरिज्ञानप्रवृत्तिरूपेण सन्तानेन लोके रूढः सामान्यविशेषव्यवहारः औपचारिकावग्रहे सत्येव घटते नान्यथा तदनभ्युपगमे हि प्रथमापायानन्तरमीहानुत्थानम्, उत्तरविशेषाग्रहणं चाभ्युपगतं भवति । उत्तरविशेषाग्रहणे च प्रथमापायव्यवसितार्थस्य विशेषत्वमेव न सामान्यत्वम् इति पूर्वोक्तरूपो लोकप्रतीतः सामान्यविशेषव्यवहारः समुच्छिद्येत । अथ प्रथमापायानन्तरमभ्युपगम्यत ईहोत्थानम्, उत्तरविशेषग्रहणं च; तर्हि सिद्धं तदपेक्षया प्रथमापायव्यवसितार्थस्य सामान्यत्वम्, यश्च सामान्यग्राहकः, यदनन्तरं च ईहादिप्रवृत्तिः सोऽर्थावग्रहः नैश्चयिकाद्यर्थावग्रहवत् इत्युक्तमेव । इति सिद्धो व्यावहारिकार्थावग्रहः तत्सिद्धौ च सन्तानप्रवृत्त्याऽन्त्यविशेषं यावत् सिद्धः सामान्यविशेषव्यवहारः ।" –विशेषा० बृ० गा० २८८.

पृ० ५. पं० १५. 'अवगृहीत'—"नैश्चयिकार्थावग्रहे यत् सामान्यग्रहणं रूपाद्यव्यावृत्त्याऽव्यक्तवस्तुमात्रग्रहणम्, तथा व्यवहारार्थावग्रहेऽपि यदुत्तरविशेषापेक्षया शब्दादिसामान्यग्रहणम्, तस्मादनन्तरमीहा प्रवर्तते । कथम्भूतेयम् ?। तत्र विद्यमानस्य गृहीतार्थस्य विशेषविमर्शद्वारेण मीमांसा । केनोल्लेखेन ?। 'किमिदं वस्तु मया गृहीतम्—शब्दः, अशब्दो वा रूपरसादिरूपः' ?। इदं च निश्चयार्थावग्रहानन्तरभाविन्या ईहायाः स्वरूपम् । अथ व्यवहारार्थावग्रहानन्तरसम्भविन्याः स्वरूपमाह—'शाङ्ख-शार्ङ्गयोर्मध्ये कोऽयं भवेत् शब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वा' ? इति। ननु 'किं शब्दः अशब्दो वा' इत्यादिकं संशयज्ञानमेव कथमीहा भवितुमर्हति ?; सत्यम्, किन्तु दिङ्मात्रमेवेदमिह दर्शितम्, परमार्थतस्तु व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरः अन्वयधर्मघटनप्रवृत्तश्चापायाभिमुख एव बोधः—ईहा द्रष्टव्या ।" –विशेषा० बृ० गा० २८९.

पृ० ९. पं० २१. प्रत्यभिज्ञानस्य इन्द्रियसम्बन्धपश्चाद्भावित्वेऽपि न साक्षात् तत्सम्बन्धान्वयव्यतिरेकानुविधानं किन्तु साक्षात् प्रत्यक्षस्मरणान्वयव्यतिरेकानुविधानमेव इति प्रत्यभिज्ञानोत्पत्तौ प्रत्यक्षस्मरणाभ्यां इन्द्रियसंसर्गस्य व्यवहितत्वात् साक्षात् तज्जन्यत्वाभावेन प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रत्यक्षत्वं कल्पनार्हमित्यभिप्रायेण दूषयति **'तन्न'** इत्यादिना ।

पृ० ९. पं० २६. **'अनुमानस्यापि'**—अयं भावः—यदि स्मृतिमपेक्ष्य चक्षुरादिबहिरिन्द्रियं 'स एवायं घटः' इत्यादिरूपं प्रत्यक्षजातीयमेव प्रत्यभिज्ञानं जनयेत् तदा तुल्ययुक्त्या व्याप्तिस्मृत्यादिसापेक्षमेव अन्तरिन्द्रियं पक्षे साध्यवत्ताज्ञानं प्रत्यक्षजातीयमेव जनयेत्, तथा च प्रत्यभिज्ञानवत् अनुमितेरपि प्रत्यक्षजातीयताप्रसञ्जनेन सिद्धान्तसम्मतस्य अनुमानप्रमाणपार्थक्यस्य विच्छेदापत्तिः । 5

पृ० ९. पं० २७. 'स एवायं घटः' इत्यादौ विशेष्यीभूतघटांशे चक्षुरादीन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वात् तत्तारूपविशेषणविषयकस्मृतिरूपज्ञानबलेन प्रत्यभिज्ञानं विशिष्टविषयकमेव प्रत्यक्षजातीयं भवितुमर्हतीति नैयायिकविशेषमतमाशङ्क्य निराकरोति **'एतेन'** इत्यादिना । 10

पृ० ९. पं० २९. **'एतत्सदृश'**—'स एवायं घटः' इत्यादौ विशेष्यांशे इन्द्रियसन्निकर्षसत्त्वेऽपि यत्र न पुरोवर्त्तिनो विशेष्यत्वं यथा 'एतत् सदृशः' इत्यादिस्थले किन्तु तस्य विशेषणत्वं तत्र विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षाभावेन विशेषणज्ञानसहकृतविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्यापि दुष्कल्पत्वात् न विशिष्टप्रत्यक्षजातीयत्वं समुचितमिति भावः । 15

पृ० १०. पं० १. ननु क्लृप्तप्रत्यक्षप्रमाणान्तर्गतत्वेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तोऽपि मीमांसक-नैयायिकादयः स्थैर्यरूपमेकत्वमेव तस्याः विषयत्वेन मन्यन्ते न पुनर्जैना इव सादृश्य-वैसदृश्य-दूरत्व-समीपत्व-ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादिकमपि । ते हि सादृश्यादिप्रमेयप्रतिपत्त्यर्थमुपमानादिप्रमाणान्तरमेव प्रत्यभिज्ञाविलक्षणं कल्पयन्ति इति एकत्ववत् सादृश्यवैसदृश्यादेरपि प्रत्यभिज्ञाविषयत्वसमर्थनेन तेषां मतमपासितुं ग्रन्थकारः पूर्वं भाट्टपक्षं उपन्यस्यति **'ननु'** इत्यादिना । 20

पृ० १०. पं० ११. नैयायिकास्तु मीमांसकवत् नोपमानस्य प्रमेयं सादृश्यादिकं मन्यन्ते किन्तु सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धरूपमेव प्रमेयं तद्विषयत्वेन कल्पयन्ति इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धस्यापि प्रत्यभिज्ञाविषयत्वसमर्थनेन नैयायिकाभ्युपगतं उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं निरसितुं तन्मतमुपन्यस्यति **'एतेन'** इत्यादिना । 25

पृ० १०. पं० २०. **'आसाम्'**—सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व-दूरत्व-समीपत्वादिगोचराणां सङ्कलनात्मिकानां सर्वासां प्रतीतीनामित्यर्थः ।

पृ० १०. पं० २५. **'स्वरूपप्रयुक्ता'**—स्वाभाविकाऽव्यभिचाररूपा व्याप्तिरित्यर्थः। तच्छून्यावृत्तित्वरूपोऽव्यभिचारो द्विविधः अनौपाधिकः औपाधिकश्च । धूमे वह्निशून्यावृत्तित्वस्य उपाध्यकृतत्वेन अनौपाधिकत्वात् स्वाभाविकत्वम् । वह्नौ तु धूमशून्यावृत्तित्वस्य आर्द्रेन्धनसंयोगरूपोपाधिकृतत्वेन औपाधिकत्वात् न स्वाभाविकत्वम् इति बोध्यम् । स्वाभाविकाव्यभिचारलक्षणैव व्याप्तिरनुमित्यौपयिकीत्यभिप्रायेण उक्तम् **'स्वरूपप्रयुक्ताव्यभिचारलक्षणायाम्'** इत्यादि । 30

पृ० ५. पं० १७. **'नचेयं संशय'**–"निर्णयादर्शनात् ईहायां तत्प्रसङ्ग इति चेत्; न; अर्थादानात् ।" "संशयपूर्वकत्वाच्च ।" –तत्त्वार्थरा० १. १५. ११, १२ । प्र. न. २. ११.

पृ० ५. पं० १९. **'ईहितस्य'**–"मधुरस्निग्धादिगुणत्वात् शङ्खस्यैवाऽयं शब्दः, न शृङ्गस्य इत्यादि यद् विशेषविज्ञानम्, सोऽपायो निश्चयज्ञानरूपः । कुतः ?। पुरोवर्त्यर्थधर्माणामनुगमभावादस्तित्वनिश्चयसद्भावात्, तत्राविद्यमानार्थधर्माणां तु व्यतिरेकभावात् नास्तित्वनिश्चयसत्त्वात् । अयं च व्यवहारार्थावग्रहानन्तरभावी अपाय उक्तः, निश्चयावग्रहानन्तरभावी तु श्रोत्रग्राह्यत्वादिगुणतः 'शब्द एवायं न रूपादिः' इति ।" –विशेषा० बृ० गा० २९०.

पृ० ५. पं० २१. **'स एव दृढ'**–"अपायेन निश्चितेऽर्थे तदनन्तरं यावदद्यापि तदर्थोपयोगसातत्येन वर्त्तते न तु तस्मान्निवर्त्तते तावत् तदर्थोपयोगादविच्युतिर्नाम सा धारणायाः प्रथमभेदो भवति । ततः तस्य अर्थोपयोगस्य यदावरणं कर्म तस्य क्षयोपशमेन जीवो युज्यते येन कालान्तरे इन्द्रियव्यापारादिसामग्रीवशात् पुनरपि तदर्थोपयोगः स्मृतिरूपेण समुन्मीलति सा चेयं तदावरणक्षयोपशमरूपा वासना नाम द्वितीयस्तद्भेदो भवति । कालान्तरे च वासनावशात् तदर्थस्य इन्द्रियैरुपलब्धस्य अथवा तैरनुपलब्धस्यापि मनसि या स्मृतिराविर्भवति सा तृतीयस्तद्भेद इति । एवं त्रिभेदा धारणा विज्ञेया ।" –विशेषा० बृ० गा० २९१.

पृ० ५. पं० २५. **'केचित्तु अपनयन'**–"तत्र विद्यमानात् स्थाण्वादेर्योऽन्यः तत्प्रतियोगी तत्राविद्यमानः पुरुषादिः तद्विशेषाः शिरःकण्डूयनचलनस्पन्दनादयः तेषां पुरोवर्त्तिनि सद्भूतेऽर्थे अपनयनं निषेधनं तदन्यविशेषापनयनं तदेव तन्मात्रम् अपायमिच्छन्ति केचन अपायनमपनयनमपाय इति व्युत्पत्त्यर्थविभ्रमितमनस्काः । अवधारणं धारणा इति च व्युत्पत्त्यर्थभ्रमितास्ते धारणां ब्रुवते । किं तत् ?। सद्भूतविशेषावधारणम्–सद्भूतस्तत्र विवक्षितप्रदेशे विद्यमानः स्थाण्वादिरर्थविशेषस्तस्य 'स्थाणुरेवायम्' इत्यवधारणम् ।" –विशेषा० बृ० गा० १८५.

पृ० ५. पं० २७. **'तन्न'**–"तदेतद् दूषयितुमाह–कस्यचित् प्रतिपत्तुः तदन्यव्यतिरेकमात्रादवगमनं निश्चयो भवति तद्यथा–यतो नेह शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा दृश्यन्ते ततः स्थाणुरेवायमिति । कस्यापि सद्भूतसमन्वयतः यथा स्थाणुरेवायं वल्ल्युत्सर्पणवयोनिलयनादिधर्माणामिहान्वयादिति । कस्यचित् पुनः तदुभयाद् अन्वयव्यतिरेकोभयात् तत्र भूतेऽर्थेऽवगमनं भवेत्; तद्यथा यस्मात् पुरुषधर्माः शिरःकण्डूयनादयोऽत्र न दृश्यन्ते वल्ल्युत्सर्पणादयस्तु स्थाणुधर्माः समीक्ष्यन्ते तस्मात् स्थाणुरेवायमिति । नचैवमन्वयात् व्यतिरेकात् उभयाद्वा निश्चये जायमाने कश्चिद्दोषः । परव्याख्याने तु वक्ष्यमाणन्यायेन दोषः ।" –विशेषा० बृ० गा० १८६.

पृ० ५. पं० २८. **'अन्यथा स्मृतेः'**—"यस्माद् व्यतिरेकाद् अन्वयादुभयाद्वा भूतार्थविशेषावधारणं कुर्वतो योऽध्यवसायः स सर्वोऽपि अपायः न तु सद्भूतार्थविशेषावधारणं धारणा इति । व्यतिरेकोऽपायः अन्वयस्तु धारणा इत्येवं मतिज्ञानतृतीयभेदस्य अपायस्य भेदे अभ्युपगम्यमाने पञ्च भेदा भवन्ति आभिनिबोधिकज्ञानस्य । तथाहि–अवग्रहेहापायधारणालक्षणाश्चत्वारो भेदास्तावत् त्वयैव पूरिताः पञ्चमस्तु भेदः स्मृतिलक्षणः प्राप्नोति अविच्युतेः स्वसमान-

पृ० १०. पं० २९. ननु मा भूत् अव्यभिचारलक्षणा व्याप्तिरयोग्यत्वात् प्रत्यक्षस्य विषयः किन्तु सामानाधिकरण्यरूपायाः व्याप्तेस्तु योग्यत्वात् प्रत्यक्षविषयत्वं सुशकमेव। सामानाधिकरण्यं व्यक्तिविश्रान्ततया तत्तद्व्यक्तियोग्यत्वे प्रत्यक्षयोग्यमेव इति तत्तद्व्यक्तिग्रहे तत्सामानाधिकरण्यस्यापि सुग्रहत्वम्। सकलसाध्यसाधनोपसंहारेण सामानाधिकरण्यज्ञानस्य लौकिकसन्निकर्षजन्यत्वासम्भवेऽपि सामान्यलक्षणाऽलौकिकसन्निकर्षद्वारा सुसम्भवत्वात् तादृशव्याप्तिज्ञानार्थं न प्रमाणान्तरकल्पनमुचितमित्याशयेन नैयायिकः शङ्कते **'अथ'** इत्यादिना।

पृ० ११. पं० २. **'प्रमाणाभावात्'**–न्यायनयेऽपि सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिस्वीकारे नैकमत्यम्। तस्याः चिन्तामणिकृता सामान्यलक्षणाग्रन्थे समर्थितायाः दीधितिकृता तत्रैव निष्प्रयोजनत्वोपपादनेन निरस्तत्वात्।

पृ० ११. पं० २. **'ऊहं विना'**–ज्ञायमानसामान्यं सामान्यज्ञानं वा सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिः। तथा च सामान्यमपि सकलव्यक्त्युपस्थापकं तदैव स्यात् यदा व्यक्तिसाकल्यं विना अनुपपद्यमानतया तज् ज्ञायेत। तथा च सकलव्यक्त्युपस्थितये सामान्ये व्यक्तिसाकल्यान्यथानुपपद्यमानताज्ञानमावश्यकम्। सामान्यनिष्ठा तादृश्यनुपपद्यमानता च व्यक्तिसाकल्यव्याप्तिरूपा। सा च 'यदि सामान्यं व्यक्तिसाकल्यव्यभिचारि स्यात् तदा सामान्यमेव न स्यात्' इत्याद्यूहं विना दुर्ज्ञानेति सकलव्यक्त्युपस्थापनोपयोगिसामान्यज्ञानार्थम् ऊहस्य सामान्यलक्षणापक्षेऽपि अवश्यस्वीकार्यत्वात् तेनैव सर्वत्र व्याप्तिज्ञानकल्पनं समुचितमिति भावः।

पृ० ११. पं० ८. **'नानवस्था'**–निरस्तशङ्कव्याप्तिज्ञानजननाय अन्तरोदीयमानां व्यभिचारशङ्कां निरसितुं अनिष्टापादनं आवश्यकम्। तच्च न व्याप्तिज्ञानं विना सम्भवति इति व्याप्तिज्ञानेऽपि व्याप्तिज्ञानान्तरापेक्षा, तत्रापि तदन्तरापेक्षा एवं क्रमेण एकस्मिन्नेव व्याप्तिज्ञाने कर्तव्येऽनन्तानन्तव्याप्तिज्ञानानामपेक्षणीयतया अनवस्था समापतति इति तन्निरासः योग्यताबलात् ग्रन्थकृता दर्शितः।

पृ० ११. पं० ९. निर्विकल्पस्यैव मुख्यं प्रामाण्यं स्वीकुर्वतां बौद्धानां मते विचारात्मकस्य तर्कस्य विकल्परूपत्वेन प्रामाण्यं न सम्भवति इति तेषां मतमाशङ्कते **'प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्प'** इत्यादिना।

पृ० ११. पं० ९. **'तन्न'** इत्यादिना विकल्प्य दूषयति। तथाहि–ननु किं तर्कस्य विकल्परूपतया अप्रामाण्यं प्रत्यक्षपृष्ठभावित्वेन तद्गृहीतमात्रग्राहित्वकृतम्, आहोस्वित् तत्पृष्ठभावित्वेऽपि तदगृहीतसामान्यग्राहित्वकृतम्?। तत्र नाद्यः; प्रत्यक्षगृहीतस्वलक्षणमात्रग्राहित्वेन विकल्पस्य अप्रामाण्येऽपि तस्य सकलोपसंहारेण व्याप्त्यनवगाहितया अस्मदभ्युपगततर्कप्रामाण्यक्षतेरभावात्। न द्वितीयः, प्रत्यक्षागृहीतसामान्यविषयकत्वेऽपि प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्य अनुमानवत् प्रामाण्ये बाधाभावात्। बौद्धा अपि अवस्तुभूतसामान्यभासकत्वेन अनुमितेः प्रत्यक्षवत् साक्षात्स्वलक्षणात्मकग्राह्यजन्यत्वाभावेऽपि तस्याः अतद्व्यावृत्तिरूपसामान्यात्मना ज्ञायमानविशेषप्रतिबद्धस्वलक्षणात्मकलिङ्गजन्यतया 'प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्'

कालभाविन्यपाये अन्तर्भूतत्वात्, वासनायास्तु स्मृत्यन्तर्गतत्वेन विवक्षितत्वात्, स्मृतेरनन्यशरणत्वात् मतेः पञ्चमो भेदः प्रसज्यते ।" –विशेषा० बृ० गा० १८७.

पृ० ५. पं० २९. **'अथ नास्त्येव'** "ननु यथैव मया व्याख्यायते–व्यतिरेकमुखेन निश्चयोऽपायः, अन्वयमुखेन तु धारणा–इत्येवमेव चतुर्विधा मतिर्युक्तितो घटते । अन्यथा तु व्याख्यायमाने–अन्वयव्यतिरेकयोर्द्वयोरप्यपायत्वेऽभ्युपगम्यमाने–अवग्रहेहापायभेदतस्त्रिभेदा मतिर्भवति न पुनश्चतुर्धा, धारणाया अघटमानत्वात् ।" –विशेषा० बृ० गा० १८७. 5

पृ० ५. पं० २९. **'तथाहि उपयोगोपरमे'**–"कथं पुनर्धारणाऽभावः ?। इह तावत् निश्चयोऽपायमुखेन घटादिके वस्तुनि अवग्रहेहापायरूपतया अन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव उपयोगो जायते तत्र च अपाये जाते या उपयोगसातत्यलक्षणाऽविच्युतिर्भवताऽभ्युपगम्यते सा अपाय एव अन्तर्भूता इति न ततो व्यतिरिक्ता । या तु तस्मिन् घटाद्युपयोगे उपरते सति सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं 10 वासनाऽभ्युपगम्यते 'इदं तदेव' इतिलक्षणा स्मृतिश्चाङ्गीक्रियते सा मत्यंशरूपा धारणा न भवति मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात् । कालान्तरे पुनर्जायमानोपयोगेऽपि या अन्वयमुखोपजायमानाऽवधारणरूपा धारणा मया इष्यते सा यतोऽपाय एव भवताऽभ्युपगम्यते ततस्तत्रापि नास्ति धृतिः धारणा, तस्मादुपयोगकाले अन्वयमुखावधारणरूपाया धारणायाः त्वयाऽनभ्युपगमात् उपयोगोपरमे च मत्युपयोगाभावात् तदंशरूपाया धारणायाः अघटमानकत्वात् त्रिधैव भवदभिप्रायेण मतिः 15 प्राप्नोति न चतुर्धा इति पूर्वपक्षाभिप्रायः ।" –विशेषा० बृ० गा० १८८–९.

पृ० ६. पं० ३. **'न; अपाय'**–"अत्रोत्तरमाह–कालान्तरे या स्मृतिरूपा बुद्धिरुपजायते, नन्विह सा पूर्वप्रवृत्तादपायात् निर्विवादमभ्यधिकैव पूर्वप्रवृत्तापायकाले तस्या अभावात् साम्प्रतापायस्य तु वस्तुनिश्चयमात्रफलत्वेन पूर्वापरदर्शनानुसन्धानायोगात् । यस्माच्च वासनाविशेषात् पूर्वोपलब्धवस्त्वाहितसंस्कारलक्षणात्–'इदं तदेव' इतिलक्षणा स्मृतिर्भवति सापि वासनापाया- 20 दभ्यधिका इति । या च अपायादनन्तरमविच्युतिः प्रवर्त्तते साऽपि । इदमुक्तं भवति–यस्मिन् समये 'स्थाणुरेवायम्' इत्यादिनिश्चयस्वरूपोऽपायः प्रवृत्तः ततः समयादूर्ध्वमपि 'स्थाणुरेवायं स्थाणुरेवायम्' इति अविच्युत्या या अन्तर्मुहूर्त्तं क्वचिदपायप्रवृत्तिः सापि अपायाविच्युतिः प्रथमप्रवृत्तापायादभ्यधिका । एवमविच्युति-वासना-स्मृतिरूपा धारणा त्रिधा सिद्धा ।" –विशेषा० बृ० गा० १८८–९. 25

पृ० ६. पं० ७. **'नन्वविच्युति'**–"नन्वविच्युतिस्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाणम्, वासना तु किंरूपा ?, इति वाच्यम् । संस्काररूपेति चेत्; कोऽयं संस्कारः–स्मृतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वा तज्ज्ञानजननशक्तिर्वा, तद्वस्तुविकल्पो वा ?, इति त्रयी गतिः । तत्राद्यपक्षद्वयमयुक्तम्, ज्ञानरूपत्वाभावात् । तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त एव भिन्नधर्मकवासनाजनकत्वाद्प्यविच्युतिप्रवृत्तद्वितीयाद्यपायविषयं वस्तु भिन्नधर्मकमेव, इति कथमविच्युतेर्गृहीतग्राहिता ? । 30 स्मृतिरपि पूर्वोत्तरदर्शनद्वयानधिगतं वस्त्वेकत्वं गृह्णाना न गृहीतग्राहिणी । सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा कालं वासनाया इष्टत्वात्, एतावन्तं च कालं तद्वस्तुविकल्पायोगात् । तदेवमविच्युति-स्मृति-

इत्यादिना प्रामाण्यं समर्थयन्ते । समर्थयन्ते च ते पुनः दृश्यप्राप्ययोरैक्याध्यवसायेन अविसंवाद-बलात् प्रत्यक्षस्य इव अनुमितेरपि प्राप्यानुमेययोरैक्याध्यवसायरूपाविसंवादबलादेव प्रामाण्यम् । एतदेव च तस्याः व्यवहारतः प्रामाण्यं गीयते । तथा च यथा बौद्धमते अनुमानस्य प्रामाण्यं व्यवहारतो न विरुद्धं तथा अस्मन्मते तर्कप्रामाण्यमपि न विरोधास्पदमिति भावः ।

पृ० ११. पं० ११. **'अवस्तु'**–अनुमानस्य वस्तुभूतस्वलक्षणविषयानवगाहित्वेऽपि इत्यर्थः । 5

पृ० ११. पं० १२. **'परम्परया'**–अनुमीयमानविषयव्याप्तस्वलक्षणात्मकलिङ्गजन्यत्वात् इत्यर्थः ।

पृ० ११. पं० २०. तर्कस्य न स्वतः प्रामाण्यं किन्तु प्रमाणसहकारितया प्रमाणानुकूल-तया वा प्रमाणानुग्राहकत्वमेव इति नैयायिकमतमुपन्यस्यति **'यत्तु'** इत्यादिना ।

पृ० ११. पं० २०. **'आहार्य्यप्रसञ्जनम्'**–बाधनिश्चयकालीनेच्छाजन्यं प्रत्यक्षं ज्ञानमा- 10
हार्यज्ञानम् । पर्वते धूमं स्वीकृत्य वह्निमाशङ्कमानं प्रति यत् 'यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि अत्र धूमोऽपि न स्यात्' इत्यनिष्टापादनम्, तत् व्याप्यस्य आहार्यारोपेण व्यापकस्य आहार्यप्रसञ्जनम्, तत्र वह्न्य-भावस्य व्याप्यत्वात् धूमाभावस्य च व्यापकत्वात् । धूमाभावाभावरूपधूमवत्तया निर्णीते पर्वते वह्न्यभावरूपव्याप्यारोपेण धूमाभावरूपव्यापकापादनस्य आहार्यज्ञानरूपत्वं सुस्पष्टमेव ।

पृ० ११. पं० २०. **'विशेषदर्शनवद्'**–यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यादिसंशयदशायां 15
एकतरकोटिव्याप्यवत्तारूपविशेषदर्शनम् एकतरकोटिविषयके निर्णये जननीये इन्द्रियं सहकरोति, यथा वा तत् अपरकोटिनिवारकमात्रं तथा तर्कोऽपि प्रमाणं सहकरिष्यति विरोधिशङ्कामात्रं वा निवर्त्त्य प्रमाणानुकूलो भविष्यति इत्यर्थः ।

पृ० ११. पं० २१. **'विरोधिशङ्का'**–तर्कस्य प्रमाणानुग्राहकत्वं द्वेधा सम्भवति विरोधिशङ्काकालीनप्रमाणकार्यकारित्वरूपसहकारित्वेन प्रमाणकार्यप्रतिबन्धकविरोधिशङ्कापसारण- 20
मात्रेण वा । तत्र प्रथमपक्षमपेक्ष्य द्वितीयपक्षानुसरणे लाघवात् उक्तम् **'विरोधिशङ्कानिवर्त्तकत्वेन'** इत्यादि । सहकारित्वं हि एकधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावत्त्वम् यथा–दण्डस्य कुम्भ-कारसहकारित्वम्, तदसमवधानप्रयुक्तफलोपधायकत्वाभाववत् तत्कत्वं वा यथा–उत्तेजकमण्यादेः वह्निसहकारित्वम् यथा वा अदृष्टस्य कुम्भकारादिसहकारित्वम् । द्विविधस्यापि प्रमाणसहकारित्व-स्य तर्के कल्पनमपेक्ष्य विरोधिशङ्कानिवर्तकत्वमात्रकल्पने लाघवात् । 25

पृ० ११. पं० २३. **'क्वचिदेतत्'**–'यत्र व्याप्तिग्रहानन्तरं 'पक्षे हेतुरस्तु साध्यं मास्तु' इति व्यभिचारशङ्का समुल्लसेत् तत्र 'यदि पर्वते वह्निर्न स्यात् तदा धूमोऽपि न स्यात्' इति व्याप्यारोपाहितस्य व्यापकारोपस्य नैयायिकाभिमतस्य तर्कस्य धूमाभावाभाववत्तया वह्न्यभावा-भाववत्त्वरूपविपर्ययसाधनपर्यवसायित्वेन आहार्यशङ्काविघटकतया व्याप्तिनिर्णय एव उपयोगः । यत्र पुनर्व्याप्तिविचारो न प्रस्तुतः न वा तादृशी आहार्यशङ्का तत्र विचारानङ्गत्वेपि 30
स्वातन्त्र्येणैव शङ्कामात्रविघटकतया तादृशस्य तर्कस्य उपयोगित्वम् इति भावः ।

पृ० ११. पं० २५. नैयायिकानुरोधेन यदि शङ्कामात्रविघटकतया तर्कस्य उपयोगित्वं

वासनारूपायास्त्रिविधाया अपि धारणाया अघटमानत्वात् त्रिधैव मतिः प्राप्नोति, न चतुर्धा।" विशेषा० बृ० गा० १८९.

पृ० ६. पं० ११. 'न; स्पष्ट–'–"अत्रोच्यते–यत् तावत् गृहीतग्राहित्वादविच्युतेरप्रामाण्यमुच्यते, तदयुक्तम्, गृहीतग्राहित्वलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वात्, अन्यकालविशिष्टं हि वस्तु
5 प्रथमप्रवृत्तापायेन गृह्यते, अपरकालविशिष्टं च द्वितीयादिवारा प्रवृत्तापायेन। किञ्च, स्पष्ट-स्पष्टतर-स्पष्टतमवासनापि स्मृतिविज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपा तद्विज्ञानजननशक्तिरूपा चेष्यते सा च यद्यपि स्वयं ज्ञानरूपा न भवति तथापि पूर्वप्रवृत्ताविच्युतिलक्षणज्ञानकार्यत्वात् उत्तरकालभाविस्मृतिरूपज्ञानकारणत्वाच्च उपचारतो ज्ञानरूपाऽभ्युपगम्यते। तद्वस्तुविकल्पपक्षस्तु अनभ्युपगमादेव निरस्तः। तस्मादविच्युति-स्मृति-वासनारूपाया धारणायाः स्थितत्वात् न मतेस्त्रैविध्यम्,
10 किन्तु चतुर्धा सेति स्थितम्।" –विशेषा० बृ० गा० १८९.

पृ० ६. पं० १६. 'एते च अवग्रहा'–"ननु एते अवग्रहादय उत्क्रमेण, व्यतिक्रमेण वा किमिति न भवन्ति, यद्वा ईहादयस्त्रयः, द्वौ, एको वा किं नाभ्युपगम्यन्ते, यावत् सर्वेऽप्यभ्युपगम्यन्ते ?। इत्याशङ्क्याह–तत्र पश्चानुपूर्वीभवनमुत्क्रमः अनानुपूर्वीभवनं त्वतिक्रमः, कदाचिदवग्रहमतिक्रम्येहा, तामप्यतिलङ्घ्याऽपायः, तमपि अतिवृत्य धारणेति–एवमनानुपूर्वीरूपोऽतिक्रमः।
15 एताभ्यामुत्क्रम-व्यतिक्रमाभ्यां तावदवग्रहादिभिर्वस्तुस्वरूपं नावगम्यते। तथा एषां मध्ये एकस्याप्यन्यतरस्य वैकल्ये न वस्तुस्वभावावबोधः, ततः सर्वेऽप्यमी एष्टव्याः, न त्वेकः, द्वौ, त्रयो वा।" –विशेषा० बृ० गा० २९५.

"यस्मादवग्रहेणाऽगृहीतं वस्तु नेह्यते ईहाया विचाररूपत्वात्, अगृहीते च वस्तुनि निरास्पदत्वेन विचारायोगादिति अनेन कारणेनादावग्रहं निर्दिश्य पश्चादीहा निर्दिष्टा। न चाऽनी-
20 हितम् अपायविषयतां याति अपायस्य निश्चयरूपत्वात्, निश्चयस्य च विचारपूर्वकत्वात्। एतदभिप्रायवता चाऽपायस्यादौ ईहा निर्दिष्टेति। न चापायेनानिश्चितम् धारणाविषयीभवति वस्तु धारणाया अर्थावधारणरूपत्वात्, अवधारणस्य च निश्चयमन्तरेणायोगादित्यभिप्रायः। ततश्च धारणादौ अपायः। ततः किम्?। तेनावग्रहादिक्रमो न्याय्यः नोत्क्रमाऽतिक्रमौ, यथोक्तन्यायेन वस्त्ववगमाभावप्रसङ्गात्।" –विशेषा० बृ० गा० २९६.

25 "ज्ञेयस्यापि शब्दादेः स स्वभावो नास्ति य एतैरवग्रहादिभिरेकादिविकलैरभिन्नैः समकालभाविभिः उत्क्रमातिक्रमवद्भिश्चावगम्येत किन्तु शब्दादिज्ञेयस्वभावोपि तथैव व्यवस्थितो यथा अमीभिः सर्वैः भिन्नैः असमकालैः उत्क्रमातिक्रमरहितैश्च सम्पूर्णो यथावस्थितश्चावगम्यते अतो ज्ञेयवशेनाप्येते यथोक्तरूपा एव भवन्ति।" –विशेषा० बृ० गा० २९७। प्र. न. २. १४–१७.

पृ० ६. पं १७. 'क्वचिदभ्यस्ते' "अत्र परः प्राह–अनवरतं दृष्टपूर्वे विकल्पिते, भाषिते च
30 विषये पुनः क्वचित् कदाचिदवलोकितेऽवग्रहेहाद्वयमतिक्रम्य प्रथमतोऽप्यपाय एव लक्ष्यते निर्विवादमशेषैरपि जन्तुभिः, यथा 'असौ पुरुषः' इति। अन्यत्र पुनः क्वचित् पूर्वोपलब्धे सुनिश्चिते दृढवासने विषयेऽवग्रहेहापायानतिलङ्घ्य स्मृतिरूपा धारणैव लक्ष्यते, यथा 'इदं तद् वस्तु यद-

जैनेनापि स्वीक्रियेत तर्हि धर्मभूषणेन न्यायदीपिकायां अज्ञाननिवर्तकतया समर्थितं तर्कस्य प्रामाण्यं कथं सङ्गमनीयमित्याशङ्कामपाकर्तुमाह **'इत्थं च'** इति । तथा च अज्ञानपदस्य तत्र मिथ्याज्ञान-परत्वेन मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वं तर्कस्य तत्र धर्मभूषणाभिप्रेतत्वेन बोद्धव्यम् इति न कश्चिद्विरोधः ।

पृ० ११. पं० २६. ननु यदि व्याप्तिविषयकसंशयात्मकमिथ्याज्ञाननिवर्त्तकतया तर्कस्य 5 प्रामाण्यं समर्थ्यते तर्हि प्रमाणसामान्यफलतया ज्ञानाभावरूपाऽज्ञाननिवृत्तिः जैनाभिप्रेता तर्क-प्रमाणफलत्वेन कथं निर्वहेत् इत्याशङ्कायामाह–**'ज्ञानाभावनिवृत्तिः'** इत्यादि । तथा च जैनमते ज्ञानमात्रस्य स्वप्रकाशतया तर्कस्यापि स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवसितिपर्यवसायित्वम् । स्वव्यवसितेश्च विषयव्यवसितिगर्भिततया बाह्यविषयज्ञातताव्यवहारप्रयोजकत्वेन विषयाज्ञाननिवृत्तिरूपत्वमिति वस्तुतः स्वव्यवसितेरेव ज्ञानाभावनिवृत्तिरूपतया न तर्कस्यापि अज्ञाननिवृत्तिरूपसामान्यफलानुपपत्तिः।

10 पृ० १२. पं० ४. अनुमितिनिरूपितकारणतायां पक्षद्वयं वर्तते–हेतुग्रहण-संबन्धस्मरणयोर्द्व-योरेव समुदितयोः कारणत्वमिति एकः पक्षः, नोक्तयोर्द्वयोः कारणत्वं किन्तु तद्द्वयजन्यस्य एकस्यैव लिङ्गपरामर्शस्य अनुमितिकारणत्वमित्यपरः पक्षः । अत्र ग्रन्थकृता प्रथमं पक्षमाश्रित्यो-क्तम् **'समुदितयोः'** इति ।

पृ० १२. पं० २१. अन्तर्व्याप्तिरेव अनुमितिप्रयोजिका । अन्तर्व्याप्तौ चावश्यमेव पक्ष-15 स्यान्तर्भावः । व्याप्तिज्ञानीया धर्मिविषयतैव अनुमितिधर्मिविषयतायां तन्त्रमिति हेतुलक्षणे पक्षधर्मत्वाऽप्रवेशेऽपि अन्तर्व्याप्तिज्ञानबलादेव तज्जन्यानुमितौ पक्षस्यैव धर्मितया भानं न पुनरन्य-थानुपपत्त्यवच्छेदकतया हेतुग्रहणाधिकरणतया वा तस्य भानमित्यभिप्रायेण प्रमाणनयतत्त्वालो-कीयं अन्तर्व्याप्तिबहिर्व्याप्तिलक्षणपरं सूत्रं अवलम्ब्य कस्यचिदेकदेशिनो मतमुपन्यस्यति–**'यत्तु'** इत्यादिना ।

20 पृ० १२. पं० २३. न पक्षान्तर्भावानन्तर्भावकृतोऽन्तर्व्याप्तिबहिर्व्याप्त्योर्भेदः किन्तु स्वरू-पत एव तयोर्भेदः, अन्तर्व्याप्तेः साध्यशून्यावृत्तित्वरूपत्वात्, बहिर्व्याप्तेश्च साध्याधिकरणवृत्तित्व-रूपत्वात् । तथा च अनुमितिप्रयोजकान्तर्व्याप्तौ पक्षस्याघटकतया न तद्भानबलाद् अनुमिति-विषयता तत्र पक्षे निर्वाहयितुं शक्येति अनुमितौ तद्भाननिर्वाहाय अस्मदुक्तैव क्वचिदन्यथा-नुपपत्त्यवच्छेदकतया इत्यादिरीतिरनुसरणीया । यदि च अन्तर्व्याप्तौ नियमतः पक्षभानं स्यात् 25 तदा अन्तर्व्याप्तिग्रह एव पक्षसाध्यसंसर्गस्य भासितत्वात् किं पृथगनुमित्या ?, इत्याशयेन पूर्वोक्तं एकदेशिमतं निराकरोति **'तन्न'** इत्यादिना ।

पृ० १४ पं० २७. 'ननु विकल्पसिद्धो धर्मी नास्ति' इत्यादिवचनस्य उपपत्त्यसंभवप्रति-पादनेन विकल्पसिद्धधर्म्यनङ्गीकारवतो नैयायिकान्प्रति यत् मौनापत्तिरूपं दूषणं दत्तं तत् जैनमतेऽपि समानम् ; तत्रापि हि 'असतो नत्थि निसेहो' इति भाष्यानुरोधेन असत्ख्यात्यनभ्युपगमात् अभावांशे 30 असतः प्रतियोगिनो विशेषणतया भानाऽसंभवात् 'शशशृङ्गं नास्ति' इत्यादितः विशिष्टविषयक-शाब्दबोधानुपपत्त्या तादृशवचनव्यवहारस्य असम्भवात् इत्याशङ्कां निराकर्त्तुं तादृशस्थले शाब्द-

स्माभिः पूर्वमुपलब्धम्' इति। तत् कथमुच्यते–उत्क्रमातिक्रमाभ्याम्, एकादिवैकल्ये च न वस्तु-सद्भावाधिगमः ? ।"–विशेषा० वृ० गा० २९८.

"भ्रान्तोऽयमनुभव इति दर्शयन्नाह–यथा तरुणः समर्थपुरुषः पद्मपत्रशतस्य सूच्यादिना वेधं कुर्वाण एवं मन्यते– मया एतानि युगपद् विद्धानि। अथ च प्रतिपत्रं तानि कालभेदेनैव भिद्यन्ते। न चासौ तं कालमतिसौक्ष्म्याद् भेदेनाववुद्ध्यते। एवमत्रापि अवग्रहादिकालस्य अतिसूक्ष्मतया 5 दुर्विभावनीयत्वेन अप्रतिभासः, न पुनरसत्त्वेन। तस्मादुत्पलपत्रशतवेधोदाहरणेन भ्रान्त एवायं प्रथमत एव अपायादिप्रतिभासः। यथा शुष्कशष्कुलीदशने युगपदेव सर्वेन्द्रियविषयाणां उपलब्धिः प्रतिभाति, तथैषोऽपि प्राथम्येनापायादिप्रतिभासः। पञ्चानामपि इन्द्रियविषयाणामुप-लब्धिर्युगपदेवास्य प्रतिभाति। न चेयं सत्या, इन्द्रियज्ञानानां युगपदुत्पादायोगात्। तथाहि–मनसा सह संयुक्तमेवेन्द्रियं स्वविषयज्ञानमुत्पादयति, नान्यथा, अन्यमनस्कस्य रूपादिज्ञानानु- 10 पलम्भात्। न च सर्वेन्द्रियैः सह मनो युगपत् संयुज्यते तस्यैकोपयोगरूपत्वात्, एकत्र ज्ञातरि एककालेऽनेकैः संयुज्यमानत्वाऽयोगात्। तस्मात् मनसोऽत्यन्ताऽऽशुसंचारित्वेन कालभेदस्य दुर्लक्षत्वात् युगपत् सर्वेन्द्रियविषयोपलब्धिरस्य प्रतिभाति। परमार्थतस्तु अस्यामपि काल-भेदोऽस्त्येव। ततो यथाऽसौ भ्रान्तैर्नोपलक्ष्यते तथाऽवग्रहादिकालेऽपीति प्रकृतम्। तदेवम् अवग्रहादीनां नैकादिवैकल्यम्, नाऽप्युत्क्रमातिक्रमौ इति स्थितम्।" –विशेषा० वृ० गा० २९९. 15

पृ० ६. पं० १९. **'तदेवम् अर्थावग्रहादयः'** –विशेषा० वृ० गा० ३००, ३०१.

पृ० ६. पं० २०. **'अथवा बहुबहु'**–विशेषा० वृ० गा० ३०७.

पृ० ६. पं० २१. **'बह्वादयश्च भेदाः'**–विशेषा० वृ० गा० ३०८–३१०.

पृ० ७. पं० २. **'श्रुतम् अक्षर'**–आव० नि० १९. विशेषा० वृ० गा० ४५४.

पृ० ७. पं० ३. **'तत्राक्षरं त्रिविधम्'**–विशेषा० वृ० गा० ४६४–४६६. 20

पृ० ७. पं० ४. **'एते चोपचाराच्छ्रुते'**–"सञ्ज्ञाक्षरम्, व्यञ्जनाक्षरं चैते द्वे अपि भाव-श्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतम्।" –विशेषा० वृ० गा० ४६७.

पृ० ७. पं० ५. **'एतच्च परोपदेशं विनापि'**–"यदपि परोपदेशजत्वमक्षरस्य उच्यते तदपि सञ्ज्ञा-व्यञ्जनाक्षरयोरेवाऽवसेयम्। लब्ध्यक्षरं तु क्षयोपशमेन्द्रियादिनिमित्तमसञ्ज्ञिनां न विरुध्यते।" –विशेषा० वृ० गा० ४७५. 25

"यथा वा संज्ञिनामपि परोपदेशाभावेन केषाञ्चिदतीवमुग्धप्रकृतीनां पुलीन्दवालगोपाल-गवादीनामसत्यपि नरादिवर्णविशेषविषये विज्ञाने लब्ध्यक्षरं किमपीक्ष्यते, नरादिवर्णोच्चारणे तच्छ्रवणात् अभिमुखनिरीक्षणादिदर्शनाच्च। गौरपि हि शबलाबहुलादिशब्देन आकारिता सती स्वनाम जानीते प्रवृत्तिनिवृत्त्यादि च कुर्वती दृश्यते। नचैषां गवादीनां तथाविधः परोपदेशः समस्ति।" –विशेषा० वृ० गा० ४७६. 30

पृ० ७. पं० ७. **'अनक्षरश्रुत'**–आव० नि० २०.

"इह उच्छ्वसिताद्यनक्षरश्रुतं द्रव्यश्रुतमात्रमेवावगन्तव्यं शब्दमात्रत्वात्। शब्दश्च भावश्रुतस्य कारणमेव। यच्च कारणं तद् द्रव्यमेव भवतीति भावः। भवति च तथाविधोच्छ्वसितनिःश्वसि-

बोधोपपादनाय अनुमित्युपपादनाय च ग्रन्थकारस्स्वाभिप्रेतां प्रक्रियामादर्शयति 'इदं त्ववधेयम्' इत्यादिना ।

अयं भावः—विकल्पसिद्धधर्मिस्थलीये शाब्दबोधे अनुमितौ वा विकल्पसिद्धस्य धर्मिणो भाने त्रय एव पक्षाः सम्भवन्ति, तथाहि—तस्य अखण्डस्यैव वा भानम्, विशिष्टरूपतया वा, खण्डशः प्रसिद्धतया वा । तत्र स्वसिद्धान्तविरोधितया प्रथमपक्षो नाङ्गीकर्तुं शक्यते । जैनसिद्धान्ते 5 हि सर्वत्रापि ज्ञाने सत एव भानाभ्युपगमेन असतो भानस्य सर्वथा अनभिमतत्वात् । विकल्पसिद्धधर्मिणः प्रमाणासिद्धत्वेन अखण्डस्यासत्त्वात् अखण्ड-तद्भानाभ्युपगमे असद्भानस्यावर्जनीयत्वमेव । द्वितीयपक्षस्तु कथञ्चिदभ्युपगमार्हः । यत्र स्थले 'शशशृङ्गं नास्ति' इत्यादौ 'शृङ्गं शशीयं न वा' इत्यादिर्न संशयः, न वा 'शृङ्गं शशीयं न' इति बाधनिश्चयस्तत्र अभावांशे शशीयत्वविशेषणविशिष्टस्य शृङ्गस्य भाने बाधकाभावात् । यत्र च स्थले तादृशः विशेषणसंशयः तादृशो 10 विशेषणबाधनिश्चयो वा तत्र विशिष्टभानासम्भवेऽपि 'शृङ्गे शशीयत्वज्ञानं जायताम्' इतीच्छाजनितं बाधनिश्चयकालीनमाहार्यज्ञानं सम्भवत्येव । तथा च 'शशशृङ्गं नास्ति' इत्यादिशाब्दबोधे 'एतत् स्थानं शशशृङ्गाभाववत्' इत्याद्यनुमितौ वा अभावांशे प्रतियोगितया भासमाने शृङ्गांशे शशीयत्वविशेषणस्य आहार्यभानोपपत्त्या प्रतिवादिपरिकल्पितविपरीतारोपनिराकरणाय तादृशस्य शब्दस्य तादृश्या वा अनुमितेः सुसम्भवत्वमेव । इत्थं च द्वितीयपक्षस्य उपपाद्यत्वेऽपि तत्र 15 अनुमितेराहार्यात्मकत्वं एकदेशीयाभिमतमेव कल्पनीयमिति तत्पक्षपरित्यागेन सर्वथा निर्दोषस्तृतीयपक्ष एव आश्रयितुमुचित इति मत्वा ग्रन्थकारेण **'वस्तुतः'** [पृ० १५. पं० ४.] इत्यादिना अन्ते खण्डशः प्रसिद्धपदार्थभानगोचरस्तृतीयपक्ष एव समाश्रितः । तथा च 'शशशृङ्गं नास्ति' इत्यादौ अभावांशे नाखण्डस्यासतः शशशृङ्गस्य भानम्, न वा शशीयत्ववैशिष्ट्यस्य आहार्यभानं किन्तु प्रसिद्ध एव शृङ्गांशे प्रसिद्धस्यैव शशीयत्वस्य अभावो भासते । तथा च 'एका- 20 न्तनित्यं अर्थक्रियासमर्थं न भवति, क्रमयौगपद्याभावात्' इत्यादिरूपायां जैनस्थापनायां एकान्तनित्यस्य जैनमते सर्वथाऽसम्भवेऽपि तादृशस्थले अनित्यत्वासमानाधिकरणरूपनित्यत्वस्य खण्डशः प्रसिद्धतया खण्डशः प्रसिद्धतादृशपक्षविषयायाः अर्थक्रियासामर्थ्याभावसाध्यिकायाः क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावहेतुकायाः 'एकान्तनित्यत्वं अर्थक्रियासामर्थ्यानियामकं क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावात्' इत्याकारिकायाः अनुमितेर्निर्बाधसम्भवेन न तादृशी जैनस्थापना विरुध्यते । 25

पृ० १४. पं० २९. **'शब्दादेः'**—शब्दात्, 'आदि'पदेन व्याप्तिज्ञानादेः परिग्रहात् व्याप्तिज्ञानादेस्सकाशादित्यर्थः ।

पृ० १५. पं० १. **'विकल्पात्मिकैव'**—अनुमितेः शब्दज्ञानानुपातित्वानियमेन शब्दज्ञानानुपातिविकल्परूपत्वाभावेऽपि वस्तुशून्यविकल्पसदृशतया विकल्पात्मिकेत्युक्तम् । तथा च विकल्पाकारवृत्तिसदृशी इत्यर्थः । 30

पृ० १५. पं० ७. **'विशेषावमर्शदशायाम्'**—अर्थक्रियासामर्थ्याभावरूपसाध्यव्याप्यीभूतक्रमयौगपद्याभावरूपविशेषधर्मनिर्णयरूपपरामर्शदशायामित्यर्थः ।

पृ० १५. पं० ८. **'नित्यत्वादौ'**—कूटस्थनित्यत्वस्य जैनमतेऽप्रसिद्धत्वेऽपि अनित्यत्वसमानाधिकरणनित्यत्वरूपस्य कथञ्चिन्नित्यत्वस्य प्रसिद्धतया तादृशे नित्यत्वे अनित्यत्वसामानाधिकरण्याभावाऽवच्छेदेन उक्ताभावः सुखेन साधयितुं शक्य इत्यर्थः ।

पृ० १५. पं० १६. **'समर्थन'**—"त्रिविधमेव हि लिङ्गमप्रत्यक्षस्य सिद्धेरङ्गम्—स्वभावः कार्यमनुपलम्भश्च । तस्य समर्थनं साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्मिणि भावसाधनम् । यथा यत् सत् कृतकं वा तत् सर्वमनित्यं यथा घटादिः सन्कृतको वा शब्द इति । अत्रापि न कश्चित्क्रमनियमः इष्टार्थसिद्धेरुभयत्राविशेषात् । धर्मिणि प्राक् सत्त्वं प्रसाध्य पश्चादपि व्याप्तिः प्रसाध्यत एव यथा सन् शब्दः कृतको वा, यश्चैवं स सर्वोऽनित्यः यथा घटादिरिति ।"—वादन्याय पृ० ३-६.

पृ० १५. पं० २१. यद्यपि वादिप्रतिवाद्युभयसम्प्रतिपन्नमेव साधनं वादभूमिकायामुपयुज्यते इति सर्वसम्मता वादमर्यादा, तथापि कश्चित् साङ्ख्यप्रख्यः स्वसिद्धान्तं स्थापयितुं स्वानभिमतमपि किञ्चित् साधनं प्रतिवादीष्टत्वमात्रेण वादकाल एव प्रयोक्तुमिच्छन्नेव तां सर्वसम्मतवादमर्यादामतिक्रम्य स्वाभिप्रायानुकूलमेव परार्थानुमानीयं यत् लक्षणान्तरं प्रणीतवान् तदेवात्र ग्रन्थकारः स्याद्वादरत्नाकर [पृ० ५५१] दिशा निरसितुं निर्दिशति **'आगमात् परेणैव'** इत्यादिना । **'आगमात्'**—आगमानुसारेण, **'परेणैव'**—प्रतिवादिनैव, **'ज्ञातस्य'**—सम्मतस्य, **'वचनम्'**—साधनतया वादकाले वादिना प्रयोग इत्यर्थः । तथा च वादिना प्रतिवादिनि स्वसिद्धान्तप्रत्यायनं साधनसिद्ध्या सम्पादनीयम् । सा च साध्यसिद्धिर्यदि केवलप्रतिवादिन्यपि स्यात् तावतैव वादी कृतार्थो भवेत् इति किम् उभयसिद्धसाधनगवेषणप्रयासेन ?, इति परार्थानुमानीयलक्षणान्तरकारिणः पूर्वपक्षिणः आशयः ।

पृ० १५. पं० २३. प्राग्निर्दिष्टं लक्षणान्तरं निराकरोति **'तदेतदपेशलम्'** इत्यादिना । अत्रायं भावः—वादिप्रतिवाद्युभयसिद्धस्यैव साधनस्य परार्थानुमानोपयोगितया न वादिप्रतिवाद्येकतरसिद्धसाधनेन अनुमानप्रवृत्तिरुचिता । तथा च साधनसिद्धये समाश्रीयमाणः आगमोऽपि वादिप्रतिवाद्युभयसम्प्रतिपन्नप्रामाण्यक एव परार्थानुमानोपजीव्यः, न तु तदन्यतरमात्रसम्मतप्रामाण्यकः । एवं च न प्रतिवादिमात्राभ्युपगतप्रामाण्यकेन आगमेन साधनमुपन्यस्य अनुमानप्रवर्तनं वादिनो न्याय्यम् । वादी हि प्रतिवाद्यागमं तेन परीक्ष्य स्वीकृतं अपरीक्ष्य वा स्वीकृतं मत्वा तमागममाश्रयन्ननुमानावसरे साधनमुपन्यस्येत् ? । न प्रथमः पक्षः, वादिनापि तदागमप्रामाण्यस्य स्वीकरणीयत्वापत्तेः । न हि परीक्षितं केनापि प्रामाणिकेन उपेक्षितुं शक्यम् । तथा च प्रतिवाद्यागमानुसारेणैव साधनवत् साध्यकोटेरपि वादिना अवश्याङ्गीकार्यत्वेन तद्विरुद्धसाधनाय अनुमानोपन्यासस्य वैयर्थ्यात् आगमबाधितत्वाच्च । न द्वितीयः, अपरीक्ष्याभ्युपगतस्य प्रामाण्यस्य प्रतिवादिनोऽपि शिथिलमूलतया सन्दिग्धतया च सन्दिग्धप्रामाण्यकतादृशप्रतिवाद्यागमानुसारेण असन्दिग्धसाधनोपन्यासस्य वादिना कर्तुमशक्यत्वात् ।

पृ० १५. पं० २३. **'अन्यथा'**—विप्रतिपन्नप्रामाण्यकागमाश्रयेण साधनोपन्यासे इत्यर्थः । **'तत एव'**—प्रतिवादिमात्रसम्मतादेव, तदीयादागमात् साध्यसिद्धिप्रसङ्गात्—प्रतिवादिनि स्वकोटेः